चिन्तन - मनन - ध्वनि

ध्वनि ने कर्णद्वार में प्रवेश किया, आभ्यन्तरिक जगत् के प्रहरी मन ने ध्यान दिया, ध्वनि ने कार्य किया अन्यथा ध्वनि होती रहे परिणाम कुछ नहीं होता।

प्रत्येक मुहूर्त ध्वनि होती है, मन विचरण करता रहता है या अस्त व्यस्त रहता है, ध्वनि का प्रभाव, मन के संयोग के अभाव में, नहीं होता।

योग से संयोग होता है। योग दो में, योग सौ में। निरोध विरोध ये दो प्रवृत्तियाँ हैं। निरोध के लिये योगाभ्यास आवश्यक है, विरोध तो स्वाभाविक क्रिया है, क्रिया का कर्ता साधारणत: अन्त:करण है।

अन्त:करण के प्राप्त संस्कार सभी योनियों में थे किन्तु इन संस्कारों का रूप जैसा मनुष्य योनि में परिलक्षित होता वैसा अन्य योनियों में नहीं। अन्य योनियों मे विवेक का स्थान शून्य तुल्य रहता है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन का राज्य सभी प्राणियों में देखा गया किन्तु मनुष्य विधाता की सर्वश्रेष्ठ कृति है। भावों की विकृति मनुष्य को पशुवत् बना देती है अन्यथा मनुष्य का चिन्तन, मनन इस धराधाम को काल्पनिक स्वर्ग से भी महान बना देता है।

मनुष्य में स्वार्थपरता है तो परमार्थ भाव भी है। दीन-हीन व्यक्ति भी महामहिम बन जाता है। क्षुद्रता, विशालता का रूप धारण कर सकती है, महाकायर कभी-कभी शूर-वीर भी बन जाता है। महाक्रोधी, अतिशान्त, महाडाकू, महात्मा, पुण्यात्मा आदि कवि के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। किन्तु ऐसा क्यों होता है, कब होता है यह विचारणीय विषय है।

जीवन में कुछ ऐसे भी क्षण आते हैं जब मनुष्य का आनन्द भाव जाग्रत होता है। कुम्भकर्णी निद्रा का परित्याग होता है। मनुष्य-मनुष्य नहीं रहता वह देव तुल्य ही नहीं होता वह स्वयं आनन्दघन होता जाता है।

यों तो जीव मनुष्य होता है और चला जाता है किन्तु यह होना और जाना तभी सार्थक होता है जब वह आनन्द ध्वनि को अपनाता है। व्यर्थ की ध्वनियों ने उसके जीवन को व्यर्थ बनाया। यदि ध्वनि का वह धनी हो पाता तो शान्ति, प्रेम, दया, क्षमा, उत्साह, निर्भयता आदि गुण उसके साथी होते। कान लगाकर सुना उन बातों को जिनके कारण उसकी सुख शान्ति छीनी गई। कान थे किन्तु उसके सदुपयोग की ओर ध्यान न था, प्राण थे किन्तु व्याकुल, चित्त था किन्तु कभी शुभ चिन्तन न था, मन था किन्तु निरर्थक चक्र में ही लगा रहता था, बुद्धि भी थी किन्तु निर्णय शुद्ध न था, अहंकार था तन का, धन का। ऐसी अवस्था में उसका संसार में आना और संसार से जाना कोई अर्थ नहीं रखता। परम अर्थ की और ध्यान न दे, पार्थिव अर्थ संग्रह में संलग्न रह, मानव ने जीवन की सुखद अवधि को निरर्थक ही व्यतीत किया।

यह पिष्टपेषण नहीं विचारों का, सरल वर्णन है जीवन का। प्राणों में भय है जन्म, मृत्यु, पाप, पुण्य का ऐसा व्यक्ति कब अभय हुआ? समझता क्यों नहीं कि सुख-दुःख जीवन रूपी नदी के दो पाट हैं। भवसागर में नहीं, भावसागर में गोता लगाये तो सुख-दुःख उसी में समा जाये।

चिन्ता करते-करते प्राणी अधमरा हो गया, चिन्ता नहीं चिन्तन कर आनन्दघन का कि धरा धन्य हो जाये तेरे आगमन से। (इस) चिन्ता ने आग लगा रखी है मन में। जीवन जल रहा है और मनुष्य समझ रहा है आयु बढ़ रही है। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ी, चिन्ता रूपी आग अधिक बढ़ती गई, रक्षा न हुई, अग्नि को ही सौंप दिया।

कहाँ गये तेरे वे सम्बन्धी - जिनके पालन-पोषण में ही जल कर सुख मानता रहा? देख आज तेरे नश्वर शरीर को आग में जला कर घर लौट रहें हैं और अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ तेरे पार्थिव धन का उपभोग कर रहे हैं। तू जिन्दगी भर जला चिन्ता में जिनके लिये, आज वे क्या कर रहे हैं? कोई रो रहा है, कोई हँस रहा है। ऐसा निरर्थक जीवन व्यतीत करने के लिये तो तू न आया था।

ऐसा क्यों हुआ? तैंने आनन्द ध्वनि न सुनी। तू ने सुनी वे बातें जो तुझे जलाती तथा मोह में अधिक फँसाती। कभी-कभी ऐसी बातें भी सुनी होंगी जिनका सम्बन्ध पाप-पुण्य से था।

अभय वाणी संत ही सुनाता है जो पाप-पुण्य की कथा नहीं कहता आनन्द वार्ता ही सुनाता है। सुनाता ही नहीं भाव में गोता लगवाता तथा भवसागर के भय से मुक्त कर अभय बनाता।

संत का संसार असार बातों को ग्रहण करने के लिये नहीं होता वह तो असार में सार खोजता है तभी तो वह डाकू को महात्मा बना देता है।

ध्वनि नाभी की, ध्वनि आकाश की। दोनों ध्वनि जब एक हुई तो जीवन धन्य हुआ। ध्वनि में विचारों का धन था। इस धन को पाकर वह धनी हुआ। ध्वनि ने धनी बनाया तन, मन की निर्धनता का उसे भान न रहा, मान न रहा, अभिमान न रहा, अवशेष वही रहा जो उसके प्राणों का धन था।

कवि अनेक हुए जिन्होंने काल्पनिक ध्वनि का प्रसार किया। संसार के बुद्धिजीवी मनुष्यों ने उसका रस लिया। यह रस भी काल्पनिक था। रस ने रास का रूप धारण किया। यह रास भी काल्पनिक, लीला को वह सत्य मान

बैठा। सत्य की ओर उसका ध्यान भी न गया। अवतारियों की लीला को वह पुण्य मान, विचार शून्य हो गया। विचार शून्य का अर्थ यह नहीं कि अब उसके हृदय की उथल-पुथल शान्त हो गई बल्कि वह विवेक शून्य हो गया। हृदय की क्षुद्र कामनाएँ भोग विलास के लिये व्याकुल हो उठीं।

यह धर्म है न कर्म, केवल वासना का विनोद है जिस पर धार्मिकता का मुलम्मा ही मुलम्मा है। ऐसे ही अनेक कर्म, धर्म हैं जिन्हें कर्म ही कहना उचित जान पड़ता है। न धर्म की निन्दा स्तुति है और न कर्म की। तथ्य को प्रकाश में लाने वाला व्यक्ति अधार्मिक कहलाये तो इसमें आश्चर्य क्या?

कुछ सामयिक धर्म थे जिन्हें आज भी प्रधानता दी जा रही है। हिंसा का प्राबल्य जब चरम सीमा पर था अहिंसा के पुजारी महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ। वह सामयिक प्रचार कारगर हुआ। बुद्ध भगवान के रूप में पूजित तथा सम्मानित हुए तथा उनके धर्मावलम्बियों ने छद्म वेश में हिंसा को प्रोत्साहन दिया। आज कौन किसकी निन्दा या स्तुति करे यह क्रम चला आ रहा है। सेवा के अभाव ने महात्मा ईसा की महिमा बढ़ाई तथा भ्रातृत्व भाव के अभाव ने हजरत मुहम्मद की। समय-समय पर ऐसे ही महापुरुषों का आगमन होता रहा है और होता रहेगा। सत्य ही सनातन है, नाम-धारी धर्म के लिये यदि कोई अभिमान करे तो यह सुन्दर प्रतीत नहीं होता। समय की माँग ने इन महापुरुषों को ईश्वर तुल्य बनाया।

प्यासे को जल मिल जाय तो वह अति प्रसन्न होगा ही किन्तु क्षुधा की निवृत्ती तो सत्य ही करता है। सत्य, धर्म नहीं है, सत्य रूप है जिसे जानकर, पहिचान कर मनुष्य इन सामयिक धर्मों को जान पाता है।

यह चिन्तन का विषय है या मनन का इसे विज्ञ लोग ही जानते हैं। श्रवण, मनन की सामग्री देता है तथा अनुभव चिन्तन की। जिसे श्रवण के

लिये अवकाश नहीं वह मनन क्या करेगा? अनुभव कुछ खोकर प्राप्त होता है और कुछ पाकर। खोने को तैयार नहीं वह पाने का अधिकारी कब हुआ? खोना सतर्क करता है और पाना प्रोत्साहित। सतर्क न हुआ मनुष्य तो खोना ही खोना है फिर भविष्य में क्या होना है? कुछ होना है तो रोना-धोना बन्द कर।

विचित्र प्राणी है मनुष्य जो सुख की इच्छा रखता हुआ दुःख ही पाता है। वह सुधार चाहता है, उन्नति करना चाहता है किन्तु मन शान्त न होने के कारण सुधार और उन्नति व्यर्थ प्रयास ही सिद्ध होता है। मन अरूपी है। संकल्प विकल्प उसका कार्य है। बुद्धि निर्णायक है किन्तु स्वार्थ ने मन तथा बुद्धि को बेहाल कर रखा है।

चिन्तन के योग्य तो अति अल्प व्यक्ति हैं। जहाँ मनन चिन्तन का अभाव है वहाँ शान्ति कहाँ? मनोविज्ञान एक पाठ्य विषय बना हुआ है। पाठ्य पुस्तकें परीक्षा में उत्तीर्ण होने की सहायिका मात्र हैं, किन्तु मन की थाह पाना पुस्तकों के आधार पर कब सम्भव?

मन मनन करने के लिये है तथा चित्त चिन्तन के लिये। मनन तब न होगा, जब मन शान्त होगा। मन शान्त होता है जब उसका निरर्थक चक्र न हो। निष्कर्ष यह कि मनन चिन्तन की आवश्यकता है।

यदि चिन्तन मनन न भी किया जाये, तब भी मनुष्य रहता है, किन्तु यह जीवन कैसा होगा इसकी कल्पना भी की जा सकती है। उद्यान में अनेक पुष्प सौरभ फैला रहे हैं, व्यक्ति न उन पुष्पों का नाम जानता है और न उन सुगन्धों का गुण, किन्तु फिर भी वह उद्यान में है। सार-असार की परिभाषा बनाना ही तो उसका काम न था। न माली को जान पाया न मालिक को। मालिक ही माली बनकर इस संसार रूपी उद्यान को नित्य प्रति सजा रहा है और सजाता आ रहा है।

युग और धर्म ने मनुष्य को भ्रमित कर रखा है। सभी युगों में उसने सौरभमय पुष्प विकसित किये, जिन्हें मनुष्य कभी भगवान मानता और कभी महात्मा, सन्त। ये तो माली के फूल थे, जिनकी सुगन्ध युगों से आ रही है और युगों तक आती रहेगी। मालिक जब माली का कार्य करने लगा, तो बड़े-बड़े तथाकथित ज्ञानी घबड़ाये और कहने लगे - मालिक क्यों माली का काम करेगा? निराकार क्यों साकार रूप में आयेगा? किन्तु, वे यह क्यों नहीं समझते, उद्यान के मालिक को इन ज्ञानियों से अधिक ध्यान है कि कहीं उद्यान ही न उजड़ जाये। अतः वह आवश्यकतानुसार उन पुष्पों को विकसित कर देता है, जिन्हें लोग अवतारी, महात्मा, सन्त आदि नाम से पुकारते हैं।

आत्मा महान, फिर मनुष्य पतित क्यों? पतित था नहीं, पतित है नहीं। उसके विचारों ने उसे क्या बना डाला, इसे वह जान नहीं पाता जब तक कि वह शुभ श्रवण, मनन का उपासक नहीं बनता।

श्रवण भी उपासना है, मनन भी उपासना है और चिन्तन भी। चिन्तन वही व्यक्ति करता है जिसने ज्ञात, अज्ञात अवस्था में श्रवण, मनन किया हो। श्रवण भी ध्वनि का क्षेत्र है और मनन भी। ध्वनि जिसमें अनेक विकार तथा विचार प्रति मुहूर्त्त तरंगित होते रहते हैं, श्रवण का विषय बन जाते हैं। जल की तरंगे देखने में आती हैं, किन्तु जिस शक्ति से परिचालित होती हैं वह शक्ति अलक्षित होती है। यों तो मनुष्य कहेगा वायु प्रेरणा देती है तरंगों को। प्रश्नोत्तर का अन्त यहीं नहीं होता। वायु भी किसी शक्ति से संचालित होती रहती है।

ध्वनि भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम होती है। तुमुल ध्वनि आकृष्ट करती है प्राणी को। इस ध्वनि का कार्य ही अधिक होता रहता है। यह ध्वनि धूम्रवत है, जिसका स्पर्श कर्णेन्द्री को होता रहता है। सूक्ष्म ध्वनि अग्निवत्। बाहरी सूक्ष्म ध्वनि अन्तःकरण की सूक्ष्म वृत्तियों को जाग्रत करती है। यह भी

एक अवस्था विशेष है। सुप्त विचारों की अग्नि प्रज्वलित हुई, जिसमें विकारों की अग्नि भस्मीभूत-सी हो जाती है। प्राचीन विचारधारा नवीन रूप धारण कर देश, काल, पात्र के अनुसार कार्य करती रहती है।

(विचारधारा) कैसे करती है तथा कहाँ करती है? ये दो प्रश्न हैं, जिनका उत्तर शब्द (लिखित शब्द) देने में असमर्थ हैं, अनुभूति का कार्य तो अनुभव के द्वारा ही होता है, शब्द तो पथ-प्रदर्शक का ही कार्य कर सकेंगे। गति तो 'स्व' की क्रिया पर अलम्बित है।

सूक्ष्मतर ध्वनि बाहरी ध्वनि की अपेक्षा नहीं करती। उसका अपना विशिष्ट स्थान है। खोये हुए धन की उपलब्धि होती है, जब सूक्ष्मतर ध्वनि कार्य करती है।

सूक्ष्मतम ध्वनि को ध्वनि की संज्ञा ही दी जाती है अन्यथा उसके कार्य तो अद्‌भुत होते हैं। सूक्ष्म आकाश के चमत्कार तो विज्ञानियों ने प्रकट किये, जिनका उपभोग जन-साधारण के लिये सरल हो गया है किन्तु, सूक्ष्मतम ध्वनि का आभास अभ्यास के द्वारा हो सकता है यह कहना भी उचित नहीं जान पड़ता। यह रहस्यपूर्ण ध्वनि है तो रसपूर्ण भी है।

कहना तो करना नहीं है। करना या हो जाना यह कहते नहीं बनता। हाँ, जब बनता है तो जाता नहीं। जाता है शरीर, जिसका कार्य ही है "आना जाना", जिसे आवागमन कहते हैं। ध्वनि विद्यमान रहती है, जिसे विद्वान ही जानते हैं जो ब्रह्म विद्या के उपासक हैं। ध्वनि चिरंजिवी है, इसे तो विज्ञान वेत्ता भी जानते हैं किन्तु, जिस सूक्ष्मतम ध्वनि का उल्लेख यहाँ किया गया है उसे जानने वाले ही जानते हैं, जिनकी संख्या अति अल्प है।

भोग रोग का खेल खेलने वाला प्राणी भला क्यों सूक्ष्मतम ध्वनि के लिये व्यग्र होने लगा। तुमुल ध्वनि से ही उसे अवकाश नहीं। यह तुमुल ध्वनि ही प्रतिध्वनि के रूप में गूँजती रहती है।

विचित्र है यह संसार, जहाँ क्रन्दन और हास्य की ध्वनि ही प्रसारित होती रहती है। क्रन्दन की ध्वनि अधिक तथा हास्य की अल्प। यह हास्य भी क्षणिक है तथा यह भी विलाप में परिवर्तित होता रहता है। यह हास्य, वस्तु विशेष या भाव विशेष के कारण होता रहता है। होता है और रहता है क्षणिक काल के लिये, चिरस्थाई रहता नहीं। हास्य जब आनन्द में बदल जाता है तो रहता ही है जाता नहीं। अवस्था में तारतम्य हो सकता है, किन्तु रहता ही है जाता नहीं।

आनन्द ध्वनि का आनन्द, आनन्दी व्यक्ति ही लेते हैं। शुद्ध संगीत का आनन्द, संगीत से अनभिज्ञ व्यक्ति नहीं ले पाता, उसे गायक की साधना निरर्थक-सी प्रतीत होती है, किन्तु रसज्ञ तो झूम उठता है गायक की साधना पर। रसमयी वाणी प्राणी को मोहित कर देती है - आनन्द ध्वनि तो जीवत्व भाव भुला 'शिव' ही बना देती है प्राणी को।

प्रश्न उठता है यह भाव स्थिर क्यों नहीं रहता? आनन्द ध्वनि का सम्पर्क ही उसे शिव भाव देता है। भाव जब अभाव जगत की ओर आकृष्ट हुआ, जब उसे अभाव ही अभाव सर्वत्र दिखलाई देने लगा, अवस्था पूर्ववत् न रही। तथाकथित ज्ञानी कहेंगे कि कैसी यह आनन्द ध्वनि है जो कभी शिव बनाती कभी जीव? आनन्द ध्वनि जीव नहीं बनाती। प्राणी ही सम्पर्क के अभाव में अपने को जीव समझ बैठे तो ध्वनि का (आनन्द ध्वनि) क्या दोष? दोष ही दु:ख बन जाता है, दोष ध्वनि का नहीं, प्राणी का है।

जल मीठा है। कैसे? इसमें चीनी मिश्रित है। चीनी न रहे, जल जल ही है, मीठा नहीं। उदाहरण अवश्य स्थूल वस्तु का है, किन्तु संकेत सूक्ष्म

भाव की ओर है। कर्णप्रिय ध्वनि के लिये मन व्याकुल हो जाता है, प्राणप्रिय ध्वनि तो प्रभु का प्रसाद है। वायु की ध्वनि तीव्र गति बतलाती है, प्राणों की बाँसुरी तो मनमोहन ही सुनाता है, जिसे सुन इन्द्रियाँ तृप्त तथा सुप्त हो जाती हैं। यह अवस्था सुप्तावस्था से निराली होती है। प्रगाढ़ निद्रा सुप्तावस्था है, जिसे विज्ञजन तम प्रधान कहते हैं, किन्तु यह सुप्तावस्था इन्द्रियों का ताप हरण कर मधुर शान्ति प्रदान करती है जो सर्व वरदानों का श्रेष्ठ दान है, जहाँ प्राणों का भान तक नहीं रहता। अनुपम है यह अवस्था जहाँ समाधि भी विशेष अर्थ नहीं रखती।

प्राणों को मोहित करना सरल कार्य नहीं, जबकि मन ही मोहित नहीं होता साधारण ध्वनि सुनकर। प्यार के दो शब्द सुनकर प्राणी प्राण न्योछावर कर बैठता है, वहाँ सूक्ष्म ध्वनि का प्रभाव तो अनुभवी ही जान पाता है।

ज्ञान विज्ञान बुद्धि प्रदायक है, किन्तु मन का क्षेत्र इस बुद्धि बल से भिन्न है। खिन्नता, भिन्नता, अभिन्नता में परिवर्तित होती है, जब प्रसन्नता का भाव प्रसारित होता है रोम-रोम में। वायुमण्डल के कण-कण में ध्वनि व्याप्त है और इसी ध्वनि में व्याप्त है वह महिमा मण्डित, प्राण उल्लासिनी ध्वनि, जिसे प्राप्त नहीं किया जाता उसी में समा जाता है प्राणी का प्राण।

स्थूल शरीर में गति रहती है, किन्तु प्राण तो उसी ध्वनि के रस में रसीला हो जाता है। पार्थिव रस आकृष्ट नहीं कर पाता प्राणों को, उसे तो कुछ ऐसा रस प्राप्त हो जाता है जिसके अभाव में उसके प्राण व्याकुल थे। जब बाँसुरी ने द्वापर की महिमा बढ़ाई तो यह ध्वनि तो चारों युगों के पूर्व तथा पश्चात् भी रहती है, इसकी महिमा का गान करना केवल मन को रिझाना है। गुण व्यक्ति क्या गायेगा, जो अब तक सगुण निर्गुण के विवाद में ही लगा है और यह ध्वनि तो एक ओर विवाद का अन्त कर, अवसाद का अन्त कर,

अनन्त में प्राणों का मिलन कराती है और दूसरी ओर "दूसरा न कोई" का भाव सदा जाग्रत करती रहती है।

भक्त कहता है "दूसरा न कोई" प्राण कहते हैं "दूसरा न कोई।" अद्‌भुत मिलन है सगुण निर्गुण का जहाँ विवाद नहीं, प्रमाद नहीं, विषाद नहीं है, केवल मिलन, वह मिलन भी शरीर का नहीं, अशरीरी का, जहाँ वेदों की कथा समाप्त होती है, उपनिषदों के उपदेश, मीमांसकों की मीमांसा, तार्किक का तर्क, प्रगतिवादी की प्रगति, भक्त की माला, भगवान का भोग, कर्म धर्म का झंझट।

रहस्य स्पष्ट जब वह ध्वनि गूँजती है प्राणों में। चन्दन पानी एक, प्रियतम प्रेमी एक, गान गायक एक, ध्याता ध्येय एक, प्राणी प्राण एक, विधाता विधान एक, ज्ञाता ज्ञेय एक, यह एक ही ध्वनि है जिसमें सब ध्वनि मिल कर एक हो जाती है।

वर्णन उसका कोई क्या करेगा जिसका कोई वर्ण नहीं, तथा जिसके सभी वर्ण। वर्णमाला अक्षरों का समूह। अक्षर का नाश नहीं, ध्वनि तो जननी है, अक्षर संकेत। संकेत में तारतम्य होता है ध्वनि में नहीं। ध्वनि यदि भिन्न न हो तो अक्षरों का प्रयोग निरर्थक हो जाता किन्तु व्यक्ति ऐसा क्यों नहीं समझता कि भिन्न ध्वनि भी ध्वनि है। भिन्नता प्रयोग में है ध्वनि, ध्वनि ही है। भिन्नता कार्यों में है कर्त्ता एक ही है, उस एक की अनेक ध्वनि सुनकर व्यक्ति भ्रम में पड़ जाता है। जहाँ भ्रम है वहाँ उस ध्वनि को सुनने में श्रम है, परिश्रम है किन्तु है एक की ध्वनि, एक ही ध्वनि।

ॐ

"शान्ति का उद्‌गम"

ध्वनि शब्द, शान्ति भाव। शब्द बाहरी, शब्द भीतरी। भाव भीतरी। यह भाव संस्कार का कारण है या संस्कार ही भाव के जनक हैं, यह विचारणीय होते हुए भी अविचारणीय है। बीज प्रथम या फल इसका उत्तर कौन दे ? बीज और फल सम्मुख हैं, उत्तर काल्पनिक ही होगा। न बीज उत्तर देता है न फल। दोनों अवाक् हैं। लाभ उठाने वाला प्रश्नोत्तर के विवाद में अपना समय क्यों व्यतीत करे, उसे तो इनसे लाभान्वित होना है। तार्किक विद्वान अपनी लेखनी की शोभा बढ़ायें।

उद्‌गम नदी का खोजता है व्यक्ति और वह सफल भी होता है, नदी गतिशील स्थूल है जल के रूप में किन्तु शान्ति तो अरूपी है, उसके उद्‌गम का पता लगाना सरल नहीं। सरल हो या कठिन, प्रयास तो मानव प्रकृति है।

कब इस सृष्टि का निर्माणहुआ तथा कैसे हुआ इसका उत्तर भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी अपने प्रवर्त्तकों के कथनानुसार देते हैं। सृष्टि का निर्माण प्रथम, प्रवर्त्तकों का आगमन पश्चात्। फिर भी कल्पना या अनुभव के आधार पर इन महापुरुषों ने सृष्टि के निर्माण तथा प्रलय के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा। उनके कथन पर विश्वास कर उनके धर्मावलम्बियों ने उसे सत्य मान सन्तोष ग्रहण किया। किन्तु इस आधुनिक काल में वैज्ञानिकों ने प्राचीन काल के अनेक कथनों को असत्य कहा है तथा अपने प्रयोगों द्वारा ये उन प्राचीन कथनों को असत्य सिद्ध करने में लगे हुए हैं। साधारण प्राणी इनकी बुद्धि पर चकित है तथा उनके प्रमाणों का खण्डन तो उसके लिए अति कठिन हो रहा है।

अरूपी की क्रिया भी अरूपी है जिसे अज्ञात कहा जा सकता है। अरूपी प्रकाश में आता है अवतारों के रूप में जिसे वैज्ञानिक स्वीकार नहीं

करते। इस द्वन्द में न फँसकर हमें तो शान्ति का उद्‌गम खोजना है। प्रयास ही है सफल या विफल यह तो विज्ञजन ही जानें।

स्रष्टा की भावना शान्ति। उद्‌गम? उत्थान की ओर गमन-उद्‌गम। यह तो रहस्यवादियों की जैसी परिभाषा हुई। स्रष्टा - "शान्ताकारम्" जब स्रष्टा ही शान्त है आकार में तो शान्ति स्रष्टा से भिन्न क्यों होने लगी? स्रष्टा ने जब सृष्टि की रचना की तो शान्ति भी सृष्टि के साथ ही साथ उत्पन्न हुई। उत्पन्न हुई यह कहना भी उचित नहीं जान पड़ता। आविर्भाव कहना ही ठीक होगा।

शान्ति केवल अकेली ही न थी भ्रान्ति भी थी और क्रान्ति भी थी किन्तु इनका आविर्भाव न हुआ था इनकी उत्पत्ति ही हुई थी यह कहना ही ठीक होगा। शान्ति एक और भ्रान्ति तथा क्रान्ति दो। शान्ति प्रतिद्वन्दिता की इच्छुक न थी। किन्तु क्रान्ति तो विद्रोह की जननी थी। अभागी भ्रान्ति को किसी करवट चैन न थी। बेचैन, फिर भी शान्ति को अपनाना न चाहती थी। शान्ति, भ्रान्ति तथा क्रान्ति पर दया का ही वर्षण करना चाहती थी किन्तु क्रान्ति की गति का ही अवरोध हो जाता यदि वह शान्ति को अपना हितु समझती। अतः शान्ति ओर क्रान्ति के मार्ग ही भिन्न हो गये।

क्रान्ति विप्लव विहारिणी - शान्ति प्रेम प्रचारिणी। क्रान्ति को प्रेम एक निरर्थक शब्द प्रतीत होता है वह तो उग्र रूप धारण कर सृष्टि की सृष्टि ही बदलना चाहती आ रही थी। आज भी शान्ति और क्रान्ति के भिन्न पथ दीख पड़ते हैं।

भ्रान्ति तो स्वयं ही बेहाल है वह न शान्ति को समझ पाती है और न क्रान्ति को। उसे तो दोनों ही निरर्थक सी जान पड़ती है। भ्रान्ति आई कहाँ से

यह प्रश्न उठाना ठीक भी है और नहीं भी। भव भ्रान्ति का स्थान न था फिर भ्रान्ति का यह कौतुक अवश्य ही अद्‌भुत है। भ्रान्ति न होती तो तथाकथित धर्मों का प्रचार सम्भव होता? कदापि नहीं। इस प्रचार तथा प्रसार में क्रान्ति ने भी भ्रान्ति का बहुत साथ दिया। धर्म सुधार के नाम पर कितना रक्तपात हुआ है इसे देखकर धर्म स्वयं लज्जित हुआ होगा ऐसा निरपेक्ष विज्ञजनों का मत है।

विचारों का चक्र मनुष्यों को दु:खी सुखी बनाता है। गतिशील धरा पर जीव-जन्तु चक्कर खा रहे हैं और चक्कर में डालने की चेष्टा में लगें हैं। धन, जन का चक्र तो प्राचीन है नवीन नहीं, किन्तु अशुद्ध विचारों का चक्र इस आधुनिक युग की देन है। जहाँ चक्र है वहाँ शान्ति कहाँ और "शान्ति का उद्‌गम" तो उनके लिये विचारणीय विषय ही क्यों होने लगा?

जीवन गतिशील है यह निर्भ्रान्त तथ्य है। गति में स्थिति विचारों की, यह शान्ति प्राप्त करने का सरल मार्ग है। गति में स्थिति यह विरोधाभास-सा प्रतीत होता है किन्तु शान्त होकर देखा जाये तो इस गति में भी स्थिति है। गति है तन की, मन की, शान्त विचार जब मन में स्थित होते हैं तो तन की गति मनुष्य को कष्टकर प्रतीत नहीं होगी तथा विचारों की दृढ़ता उसे अधिक शान्त होने में सहायक सिद्ध होगी।

उद्‌गम का स्थान बताना तो विचारों का विनोद मात्र है। नदी का उद्‌गम स्थान तो व्यक्ति को नदी के जल की शीतलता प्रदान नहीं कर सकता। स्नान करे तो तन की जलन कम हो। शान्ति का भी यही इतिहास है। अनेक महापुरुषों ने शान्ति के उपदेश दिये तथा स्वयं शान्त जीवन बिताया किन्तु धरा आज भी शान्ति के लिये तरस रही है, छटपटा रही है। भ्रान्ति और क्रान्ति का ही बोलबाला है। शान्त व्यक्ति को पलायनवादी कह

कर भी आज के चतुरजन सन्तुष्ट नहीं होते। ऐसे व्यक्ति स्वयं जलते रहते हैं तथा अन्य जनों को जलने के लिये उत्साहित करते हैं यह भ्रान्ति नहीं तो क्या है ?

अमरता विचारों में है, शरीर तो नाशवान है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। जिन्होंने शान्ति का उपदेश दिया वे भी न रहे, रहे उनके विचार, ये विचार ही अमर हैं यदि इनसे लाभ उठाया जाये। विचार हृदयंगम होंगे, मन की गति अनुकूल होगी तो तन के द्वारा जो कार्य होंगे वे तन, मन के लिये सुखदायक होंगे। ओऽम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः कह कर पाठ तो समाप्त किया गया किन्तु हृदय में शान्ति न हुई तो पाठ मात्र ही रहा शान्ति का उद्‌गम स्थान खोज कर भी प्राणी शान्त न हुआ तो, खोज का विशेष लाभ ?

मनुष्य ने मिट्टी से सोना निकाला, हीरा निकाला और निकाली अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ तथा इन्हीं के साथ खेलता रहा, हृदय को शान्ति न मिली। बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ की और कुछ साकार भी हुई किन्तु स्वयं से अनजान ही रहा, कैसी बिडम्बना है। जान पाये स्व को अति अल्प, उनकी खोज स्वर्ण न थी, था स्व प्रकाश। वे ही आज प्रकाश स्तम्भ के रूप में संसार को आलोकित कर रहे हैं। आलोक की जानकारी के लिये इस लोक की गतिविधि की उपेक्षा अपेक्षणीय है।

जिसने इस लोक को ही परम सुख निधान समझा उसके लिये शान्ति अप्राप्य सी सिद्ध हुई। शान्ति क्यों प्रिय है, इसका रहस्य जड़ यन्त्र भी बतला सकता है। वह यन्त्र जो दिन रात गतिशील रहता है उसे भी शान्ति की अर्थात् विश्राम की आवश्यकता है अन्यथा वह शीघ्र ही कार्यक्षमता विहीन हो बैठेगा (यन्त्र)। मनुष्य विचार क्यों नहीं करता कि अशान्त जीवन मनुष्य के लिये भार हो जायेगा। जीवन का महत्व ही क्या यदि व्यक्ति अशान्त ही रहे।

गतिशीलता जीवन का अंग है किन्तु यह गति किस ओर हो रही है उसका भी ध्यान आवश्यक है। शान्ति ही भ्रान्ति तथा क्रान्ति की भावना को शान्त कर सकती है। भ्रान्ति, क्रान्ति मनुष्य को आराम पहुँचा सकती तो शान्ति की आवश्यकता ही न होती। क्रान्ति भी शान्ति प्राप्त करने के लिये की जाती है ऐसा भी कुछ व्यक्तियों का कथन है किन्तु एक क्रान्ति अनेक भ्रान्तियों का कारण बन जाती है। क्रान्ति यदा कदा लाती है परिवर्तन जिसे मनुष्य सुख शान्ति समझ बैठा है। यह क्षणिक शान्ति या परिवर्तन स्थाई नहीं।

यह संसार की हलचल है या मनुष्य की कल्पना की हलचल यह कहना भी कठिन है। हमारी गति विधि हम तक ही सीमित नहीं रहती। विचारों की ये तरंगें एक क्षोभ उत्पन्न करती हैं और विश्व में आक्रोश और क्षोभ ज्ञात अज्ञात रूप से प्रसारित होता रहता है। ये विश्व युद्ध क्या है - क्षोभ का महा विस्तार। युद्ध के पश्चात् संधि की जाती है, शान्ति की घोषणा की जाती है असंख्य मनुष्यों की हत्या के पश्चात्, इसे शान्ति कहा जाये या मानसिक भ्रान्ति? भ्रान्ति, इसलिये कि पुनः युद्ध देखने में आता है। इस क्रम का नाम ही यदि विकास है तो मानवीय शक्ति का विनाश किसे कहा जाये?

शान्ति क्या यों ही प्राप्त होती है? प्रथम सन्तोष हो तो शान्ति के दर्शन हों। सन्तोष भी क्या यों ही हो जाता है उसके लिये भी मन की प्रसन्नता चाहिये। प्रसन्नता भी टेढ़ी खीर है। मन का चक्र कुछ शिथिल हो तो प्रसन्नता आये। मन का चक्र यों ही शिथिल नहीं होता उसके लिये भी एक प्रकार की मन की दृढ़ता की आवश्यकता है। यह दृढ़ता भी यों ही नहीं आती इसके लिये भी सात्विक विचारों का होना आवश्यक है। सात्विक विचार सन्तों की निधि है। सन्त समागम के इच्छुक अति अल्प व्यक्ति हैं तथा संत भी अति अल्प। निष्कर्ष यही कि शान्ति प्राप्त करना सरल नहीं। सरल है सरल व्यक्तियों के लिये जिन्हें इस युग के लोग मूर्ख ही समझते हैं। जहाँ छल, प्रपञ्च का दौर दौरा हो वहाँ ये सरल प्रकृति वाले मूर्ख ही समझे जाते

हैं। दोष किसका, युग का या मनुष्य का। युग को दोष देना उचित नहीं। मनुष्य अपने को दोषी माने यह तो देखा नहीं जाता, वह तो सदा युग धर्म की ही दुहाई देता आया है किन्तु यह तो उचित नहीं, प्रत्येक युग में कुछ न कुछ संतजन होते ही आये हैं। इस युग में भी कबीर, तुलसी, मीरा का जन्म हुआ है अतः युग को दोष देना उचित नहीं जान पड़ता।

विचार करना होगा कि यह गन्दा वातावरण क्यों दिखलाई दे रहा है? आज शान्ति के उपासकों का अभाव है। संत विचार, शान्ति के विचार अब भी सुने तथा पुस्तकों में देखे जाते हैं। मनुष्य उन विचारों से लाभ उठाये या न उठाये यह उसकी इच्छा पर अवलम्बित है। यह भी कहा जा सकता है कि शान्ति कौन नहीं चाहता? यह केवल कथन मात्र है। चाहने वाले को भाव या वस्तु की प्राप्ति के लिये क्या नहीं करना पड़ता है? प्राप्ति के लिये दिन का विश्राम तथा रात्रि की निद्रा तक का त्याग करना पड़ता है तब कहीं इच्छित भाव या वस्तु की प्राप्ति हो पाती है।

मनुष्य धन प्राप्त करने के लिये जितना सचेष्ट है क्या उसी लगन से शान्ति प्राप्त करना चाहता है? धन बाहरी वस्तु है और शान्ति आंतरिक भाव। अन्तर शुद्ध भावना का अभाव उसे शान्त नहीं होने देता। बाहर का खेल ही जिसके लिये प्रिय विनोद है वह भीतर की ओर क्यों ध्यान देने लगा? यह प्रश्न इसी युग का नहीं, सदा रहा है तथा सदा रहेगा। जिस प्रकार भक्ति हरेक व्यक्ति नहीं कर पाता, शान्ति भी सबके लिये सुलभ नहीं।

विदेह की संज्ञा सब कब पा सके? कार्य करते हुये व्यक्ति शान्त रह सके तो कार्य का भार उसकी स्नायुओं पर उतना नहीं पड़ता जितना की अशान्त व्यक्ति पर पड़ता है। जीवन को सरस बनाने के लिये शान्ति केवल आवश्यक ही नहीं, परम आवश्यक है। शान्ति के अभाव में व्यक्ति पागल तक

हो जाता है, अनिद्रा का रोग उसे कष्ट देता रहता है किन्तु फिर भी व्यक्ति शान्ति का इच्छुक नहीं, वह चाहता है क्रान्ति।

भ्रान्ति, क्रान्ति की सहायक है यह तो पहले भी कहा जा चुका है। कुछ व्यक्तियों की प्रकृति शान्त होती है, उन्हें निरर्थक वार्त्तालाप भी पसन्द नहीं। बाहरी प्रकृति तो भाव, अभाव के बाजार के सदृश्य है। ग्राहक को यदि अभाव ही प्रिय है तो प्रकृति क्या करे? अभाव क्षोभ का कारण है तथा भाव शान्ति, प्रेम, आनन्द का कारण। शान्ति भावों की तरंग है जिसकी मधुर झंकार प्राणों के घात-प्रतिघात के वाणों की जलन को शान्त कर देती है। यदि मनुष्य को मधुर शब्द सुनने को मिलते, शिक्षाप्रद बातें उसकी मानसिक उलझनों का उचित उत्तर दे पाती, तो वह अशान्त ही क्यों होता? जो न मधुर शब्दों का प्रयोग करे तथा जिसे शान्तिप्रद बातें सुनने को न मिले वह अशान्त तो होगा ही। कड़वी बातों से मुख ही कड़वा नहीं होता, दिल भी कड़वा हो जाता है। "कटुक वचन हैं तीर" कवि ने अनुभव की बात कही। कहने वाला ही क्या करे जब सुनने वाला उस पर ध्यान ही न दे।

शान्ति का उद्‌गम हृदय की कोमल भावनाओं से है, "शांताकारम्" की कृपा से है। क्षुद्र प्राणी जब शान्त होता है तो उसे जीवन का रस प्राप्त होता है। शान्ति कायरता नहीं, आलस्य नहीं, प्रमाद नहीं, अवसाद नहीं, यह तो हृदय की महत्ता की परिचायिका है। जो शान्त नहीं वह क्षमाशील कैसे हो सकता है? करुणा दया तो शान्ति की सहेलियाँ हैं। धर्म का भाव दया की अनुकम्पा का फल है। कवि ने कहा है "दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान।" दया ने क्रोध को शान्त किया। यह शान्ति दया के कारण हुई किन्तु जिस शान्ति की बातें प्रारम्भ से कही गई हैं वह शान्ति अद्‌भुत है सृष्टिकर्त्ता भी इसी गुण के कारण महान है।

सृष्टि विस्तार से महान, स्रष्टा गुण से महान। महान की सन्तान, शैतान कब हुई, जब उसने शान्ति को अपनाया। क्षुद्र स्वार्थ की बाधा को सह न सका।

अशान्त हो गया प्राणी अब उसने गुण परित्याग कर अवगुणों को अपनाया तो शैतान कहलाया। क्रोधी शान्त कब हुआ जब उसे यह समझाया गया कि केवल क्रोध प्रतिकार न कर सकेगा, प्रथम शान्त हो विचार करो कि प्रतिपक्षी से प्रतिशोध शान्त होकर ही लिया जा सकेगा। क्रोध में होशोहवास कुछ भी नहीं रहता यह तो सभी जानते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य लाभ तो क्या हानि ही उठायेगा शायद लोग इसे उपदेश समझे, यह उपदेश नहीं यह तो उचित कार्य करने की विधि है।

क्रोध करना सरल किन्तु शान्त होना कठिन। क्रोध एक अति सामान्य भाव है किन्तु शान्ति तो मानव का महान गुण है। इस गुण को अपनाने वाला व्यक्ति प्रायः असफल नहीं होता। केवल क्रोध करना तथा बुद्धि से काम न लेने वाला व्यक्ति सदा कष्ट पाता है। प्रज्वलित अग्नि, क्रोधाग्नि मन तन के लिये घातक सिद्ध होती है। जिसने केवल क्रोध को ही प्रतिकार का साधन समझा वह बुद्धि से तो हाथ धो बैठता ही है अपना अनिष्ट भी कर बैठता है। पश्चाताप ही उसे जलाता रहता है। निष्कर्ष यह कि सफलता शान्ति से प्राप्त होती है क्रोध से नहीं।

अशान्ति की कालिमा हृदय की आनन्दमयी ज्योति को धूसरित कर, अन्धकार पूर्ण बनाने में सतत् प्रयत्नशील है। आसुरी भावनायें तो आँधी की तरह आती हैं तथा हृदय को व्याकुल करती ही रहती हैं। यह कार्य अनन्त काल से हो रहा है और होता रहेगा यदि मनुष्य सावधान न रहे। सावधान रहने पर भी आसुरी शक्तियाँ अपना कार्य करने में संलग्न रहती हैं रक्षा तो शान्ति ही कर सकती है। शान्ति का अर्थ अकर्मण्यता नहीं। शान्त

चित्त व्यक्ति तो सदा सतर्क ही रहेगा अन्यथा किसी भी समय शान्ति रूपी धन का अपहरण हो सकता है।

इतिहास की घटनायें यह सिद्ध करती हैं कि पृथ्वी पर कहीं न कहीं युद्ध की अग्नि सदा प्रज्वलित रही है और अनेक स्थलों पर शान्त व्यक्तियों को निर्ममता का शिकार होना पड़ा है किन्तु यह बात सदा स्मरण रखने की आवश्यकता है कि शान्ति का अर्थ अकर्मण्यता नहीं, जो लोग शान्ति के साथ ही साथ सतर्क रहे उन्होंने ही शान्ति से लाभ उठाया। ऋषि-मुनियों ने अपनी रक्षा का भार राजाओं पर छोड़ रखा था, मारे गये। प्रश्न हो सकता है कि ऋषि-मुनि यदि सुरक्षा का कार्य अपने पर ही रखते तो उनकी साधना में विघ्न न पड़ता? उत्तर यदि वशिष्ठजी के शब्दों में दिया जाये तो ठीक होगा "शाप भी शस्त्र भी"। यह उत्तर शायद अनेक विज्ञ जनों को रुचिकर प्रतीत न हो, किन्तु यथार्थ बात रूचि, अरूचि पर नहीं निर्धारित रहती।

शान्ति और सुरक्षा की सदा आवश्यकता रही है और रहेगी। शान्ति का उपासक यदि सुरक्षा की अवहेलना करेगा तो परिणाम दुखद ही रहेगा। यह सुरक्षा विचारों के द्वारा प्राप्त हो या अन्य उपायों के द्वारा। देश की रक्षा के लिये राजा तथा प्रजा दोनों ही प्रयत्नशील रहते हैं। देह की रक्षा के लिये "देही" यदि ध्यान न दे तो देह रक्षा कठिन है। मन की रक्षा के लिये सुविचारों की सेना की आवश्यकता है। कुटिल विचार मनुष्य को न शान्ति से रहने देते हैं और न जीवन को सरस बनाने देते। संसार की ओर देखने वाले व्यक्ति को तो अशान्ति ही नजर आती है क्योंकि हलचल ही संसार का जीवन है। यदि यह 'स्व' की ओर दृष्टिपात करे तथा शान्ति का उपासक बने तो अनेक झंझट शान्त हो जाते हैं।

शरीर के प्रयोग को प्रधानता देनेवाला व्यक्ति मन की शान्ति का मूल्य समझ ही नहीं पाता। शारीरिक बल से मानसिक बल अधिक सहायक

होता है बल के अभाव में ही मनुष्य निर्बल होता है। किन्तु शान्ति का बल तो अद्‌भुत होता है। व्यक्ति विशेष को प्रभावित करना अति सरल, विश्व को भी इस शान्ति बल के द्वारा अपना बना लेते हैं। शान्ति मानसिक बल को प्रेरणा देती है तथा शरीर भी सबल, स्वस्थ रहता है इसकी कृपा के कारण।

शान्ति का उद्‌गम वहीं, जहाँ मनुष्य शान्त वातावरण में बैठ कर "शान्ताकारम्" को हृदयंगम करे। उच्च भाव ही मनुष्य को देवतुल्य बनाता है। भाव राज्य में शान्ति का प्रमुख स्थान है। दिव्य दृष्टि - दिव्य भाव ही हैं। दिव्यता, भव्यता के रूप में प्रकट होती है। भव्यता भव के प्राणियों को स्वत: आकृष्ट करती है। शान्ति का उद्‌गम सब के लिये सरल हो जानकार की दृष्टि से, यही अभिलाषा है।

ॐ

आनन्द कहाँ ?

प्रकृति के कण-कण में रस है। कहीं प्रत्यक्ष कहीं गुप्त। गुप्त है, सुप्त है, अभिव्याप्त है, प्राप्त है। फिर संताप क्यों, अनुताप क्यों, विलाप क्यों, प्रलाप क्यों ? यह प्रकृति का खेल है, जिसकी अभिज्ञता अति विज्ञ ही जान पाते हैं।

रस अन्न का, फल का, भाव का व्यक्ति को सरस बना देता है। प्रफुल्लता प्राणों की, प्रसन्नता मन की, स्वस्थता तन की व्यक्ति का व्यक्तित्व निखार देती है। प्रकृति दोष पूर्ण नहीं, छली नहीं, बली नहीं, वह तो हृदय की कली खिला देती है, यदि मनुष्य प्रकृति पहिचान पाये। विकृति प्रकृति में नहीं, मनुष्य की धारणा में है। प्रकृति को, माया को लांछना देना साधू का कार्य नहीं - उससे साधना द्वारा उसके सुप्त तथा गुप्त रहस्यों का अवगुण्ठन करना है।

दोष प्रकृति का नहीं, दोष व्यक्ति का है - जिसने उसका रहस्य न जान बाधक समझा। साधक का बाधक कौन ? उसकी अस्थिरता, चंचलता, मन की व्याकुलता। जब शंखिया भी दवा बन सकता है, जो प्राणघातक है तो यह प्रकृति तो रसीली है, स्फूर्तिदायिनी है, अभाव ग्रसित का अभाव दूर करने वाली है वह बाधक क्यों होने लगी ?

यह एक परम्परा-सी जान पड़ती है कि प्रकृति तथा संसार की निन्दा होती आई। गृह को स्वच्छ न रखने वाला व्यक्ति गृह की निन्दा करे तो गृह का क्या दोष ? संसार को 'धोखे की टट्टी' कहने वाला व्यक्ति धोखा ही खायेगा अपने जीवन से। यह सुरम्य संसार तो मनुष्य के लिये एक विशाल क्रीड़ा क्षेत्र है। क्रीड़ा भूमि को वह धर्म क्षेत्र कहे, कुरू (कर्म) क्षेत्र कहे, मृत्यु

लोक कहे - चाहे जिस नाम से पुकारे यह उसकी इच्छा पर निर्धारित है। है यह क्रीड़ा क्षेत्र।

क्रीड़ा के भी नियम हैं। नियमों की अवज्ञा खेल को रसहीन बना देती है। नियम भंग क्यों करता है, खेल को दोष क्यों देता है? नियम न जानने वाला व्यक्ति खेल को ही दोष देगा। जानने वाला तो खेल को खेल समझ कर आनन्द पायेगा। यदा-कदा असावधानी व्यक्ति के अंग-भंग का कारण बन जाती है खेल का दोष नहीं, असावधान तो दण्डित होगा ही। खेल में मानसिक विकास होता है, खेल से मानसिक विकास होता है। लक्ष्य तक पहुँचने की खिलाड़ी योजनाएँ बनाता है। योजना सफल हुई तो लक्ष्य प्राप्ति सम्भव होती है, किन्तु वह यदि ऐसा न करे तो उसे जीवन निस्सार प्रतीत होगा ही।

यह जीवन भी एक खेल है, यह संसार भी एक खेल है या खेल की भूमि। यह तो विचारणीय प्रश्न बन जाता है। कितने ही खिलाड़ी घायल होकर विदा हुए और कुछ ने आनन्द भी पाया। घायल साधारण प्राणी, आनन्दी वे जो खेल को खेल समझ खेलते रहे और हँसते-हँसते इस क्रीड़ा भूमि का परित्याग कर स्वधाम, आनन्द धाम पहुँचे। खिलाड़ी दोनों ही थे, एक पश्चाताप कर रहा था दूसरा आनन्द उठा रहा था।

आनन्द कहाँ? आनन्द खेल में, क्रीड़ाभूमि में, योजना में, लक्ष्य प्राप्ति में। प्रारम्भ से अन्त तक आनन्द ही आनन्द है। खिलाड़ी आनन्द से आया है, आनन्द के लिये आया है, और एक दिन आनन्द धाम को ही लौट जायेगा; यही तो आनन्द का संक्षिप्त वृत्तान्त है। आनन्द का वर्णन कुछ ने किया और पाया भी कुछ ने। अधिकांश व्यक्ति तो इस आनन्द भूमि (संसार) की निन्दा करने में ही लगे रहते थे और लगे रहते हैं।

भक्ति भी आनन्द का कारण है और संतोष भी। जो भक्ति न करे, प्राणों में प्रिय की अनुभूति न करे, संतोष न ले तथा न दे तो दोष किसका? आनन्द का, भक्ति का, संतोष का या उस व्यक्ति का जो यह कहे और माने की संतोष कैसे धारण किया जाये उन्नति में बाधा पड़ती है यदि वह संतोष, भक्ति को अपनाये।

भक्ति तो शक्ति देती है मन को - जो चञ्चल है, अस्थिर है, व्याकुल है, सशंकित है, भ्रमित है, त्रसित है, अनुतापी है, विलापी है, निरर्थक चक्कर काटता है, एक ही प्रश्न को संकल्प-विकल्प के तराजू पर तौलता है, अनिर्णायक है, संस्कारबद्ध है, परिवर्त्तन की इच्छा रखता हुआ भी असंतुष्ट है, मोक्ष - बन्धन का कारण होता हुआ भी बन्धन-ग्रसित है, प्रसन्नता चाहता हुआ भी अप्रसन्न है, शान्ति का इच्छुक होता हुआ भी अशान्त, निन्दा करता हुआ भी प्रशंसा का अभिलाषी, अपमान करता हुआ भी मान के लिये परेशान, झंझट फैलाता हुआ भी मेल के लिये उत्सुक, भयभीत करता हुए भी भयभीत, धर्म की बातें सुनाता हुआ भी अपनी राह पर चलता, कर्म करता हुआ भी कर्म, अकर्म, विकर्म का मार्ग न समझने वाला, बुराई करता हुआ भी भलाई चाहने वाला, पाप-पुण्य की व्याख्या सुनता तथा करता हुआ भी मनमानी करने वाला, अभिमान करता हुआ भी निरभिमानी होने का दावा करने वाला, क्रोध करता हुआ भी उसे उचित ठहराने वाला, आशा करता हुआ भी निराशा के झूले में झूलने वाला, विरोध करता हुआ भी समर्थन चाहनेवाला, आज्ञा पालन के लिये विवश करता हुआ भी अनुशासन चाहने वाला, प्रवंचक होते हुए भी प्रवंचना से बचने की इच्छा करता है, वह भक्ति की शक्ति को क्यों स्वीकार करे?

आनन्द वाणी में, प्राणी में, पृथ्वी के कण-कण में, प्रकृति की कृति में यदि व्यक्ति का मन स्वीकृत करे। अमूल्य निधि का मूल्य, मूल्य देकर प्राप्त

नहीं करना है, स्वतः प्राप्त होती है। यदि मनुष्य 'स्व' की तह में उसे खोजे। 'स्व' को न जाने, तह में दुःख चिन्ता ही उसे दिखलाई दे तो 'स्व' का क्या दोष? दुःख तो इसी बात का है कि दुःख ही देखता है, आनन्द नहीं।

ऋषि-मुनियों ने खोजा, उन्हें मिला आनन्द, भजन में चिन्तन में। चिन्तन न करे, चिन्ता को बन्दरी के बच्चे की तरह हृदय से चिपका कर रखे, जो बच्चा (बन्दरी का) मर चुका है तो प्रकृति क्या करे? प्रकृति नहीं कहती है कि मनुष्य सड़ी-गली वस्तुओं को अपनाये तथा दुर्गन्ध से व्याकुल हो, प्रकृति की निन्दा करता जीवन यापन करे। प्रकृति तो नित्य नवीन शोभा का प्रदर्शन करती है। मन मोहक पुष्पों को विकसित कर मनुष्य को विकसित होने का मार्ग दिखलाती है।

आज खिला, कल मुरझाया, यह तो शाश्वत नियम है, किन्तु मुरझाना ही देखा, खिलना नहीं, यह उचित नहीं। आनन्द खिलने का उपासक है, मुरझाना तो परिवर्त्तन का संकेत है, फिर दुःख क्यों, चिन्ता क्यों? द्वन्द के भाव तो शान्ति न दे सकेंगे। चिन्तन - आत्म-शक्ति का विकासक, चिन्ता - सुख-शान्ति की विनाशिका। यह मीठा जहर मनुष्य की शक्ति तथा मधुर कल्पना के लिये क्षय का कारण बन, भूमि को, आनन्द भूमि को नरक बना देता है।

किसी कवि का कथन है - "आनन्द उसी के राग में है, जिसके स्वर में सच्ची धुन हो।" राग-स्वर में, यदि अनुराग हृदय में हो, हृदय के अनुराग का प्रत्येक स्वर आनन्द वर्षण करता है। स्वर मीठा, स्वर कर्कश गले का। हृदय का स्वर केवल गले का स्वर नहीं रहता, वह श्रोता के गुप्त आनन्द को जाग्रत करता है। धुन केवल ध्वनि ही नहीं, वह लगन है, जिसका उत्तरोत्तर विकास भीतरी-बाहिरी प्रकाश का कारण बन जाता है। प्रकाश में

रहता हुआ प्राणी यदि प्रकाश से लाभ न उठा पाया तो उसका आगमन कुछ अर्थ नहीं रखता।

धुन (लगन) रहती है, अर्थोपार्जन की, किन्तु सच्चा धन तो कुछ और ही है, जिसे अति अल्प व्यक्ति ही पाते हैं। धुन सच्ची है, धुन मिथ्या नहीं, धन किसे समझता है व्यक्ति यही अन्तर है। सुख शरीर का, आनन्द आत्मा का स्वरूप है। सुख की धुन है, आनन्द की नहीं, तो आनन्द की अनुभूति कैसे हो? जिस व्यक्ति के लिये सुख प्राप्त करना कठिन हो रहा है, उसके लिये आनन्द अति दुर्लभ प्रतीत होगा ही।

सुख के साधन भिन्न हैं और आनन्द के तो भिन्न होंगे ही। शरीर को सब प्रकार से आराम मिले उसके लिये व्यक्ति सचेष्ट है। वह प्रभात से रात्रि द्वितीय प्रहर तक शारीरिक परिश्रम करता है, न्याय अन्याय की ओर ध्यान नहीं देता, धर्म अधर्म उसके लिये विशेष महत्व नहीं रखते, केवल प्राप्ति ही उसके जीवन का मुख्य लक्ष्य रहता है। धन उपार्जन अधर्म नहीं किन्तु अनीति द्वारा प्राप्त धन शरीर को सुख दे सकता है, मन को नहीं। ऐसा धन, मन को अशान्त करता रहता है। जहाँ मन अशान्त है वहाँ तन को सुख-सुविधा प्राप्त भी हुई तो कोई विशेष अर्थ नहीं रहता।

सुख की गति इन्द्रियों तक है - आनन्द की गति को गति कहना उचित नहीं जान पड़ता, आनन्द तो सर्वत्रव्याप्त है। प्रश्न उठता है यदि आनन्द व्याप्त है तो प्राप्त क्यों नहीं होता? उत्तर सरल है भगवान सर्वत्र व्याप्त है फिर उसके दर्शन क्यों नहीं होते? तो क्या आनन्द और भगवान एक ही हैं? भगवान के अनेक नामों में 'सत्-चित्-आनन्द' भी एक नाम है। चित्त-सत्य और आनन्द का मध्य भाग है। चित्त आनन्द में रमण करता है जब उसका आधार सत्य है। मिथ्या में आनन्द कहाँ? सुख भी प्राप्त नहीं

होता। संसार मिथ्या नहीं, व्यवहार मिथ्या तो उसे सब कुछ मिथ्या ही प्रतीत होगा। मिथ्या की कल्पना ने जगत को मिथ्या माना किन्तु आनन्द तो मिथ्या नहीं क्योंकि उसका आधार (मूल) सत्य है। चित्त में मिथ्या का भाव आश्रय पाता है तो सब मिथ्या ही मिथ्या प्रतीत होगा। ब्रह्म सत्य है तो ब्रह्म के द्वारा निर्माण की हुई सृष्टि क्यों मिथ्या होने लगी ? माया रचित सृष्टि यदि मिथ्या है तो ब्रह्म की क्या स्थिति होगी ? क्या ब्रह्म ने मिथ्या प्रचार के लिये यह विशाल ब्रह्माण्ड बनाया ?

सत्य मिथ्या के खेल ने आज सत्य को भी मिथ्या समझने के लिये अवसर दिया। सत्य - सनातन, अविकारी; मिथ्या - निरर्थक व्यवहार। व्यवहार मनुष्य का या जगत् का ? जगत् क्रीड़ा स्थल आनन्द का, वहाँ मिथ्या के लिये स्थान कहाँ? मिथ्या भाव थका देता है प्राणी को, आनन्द तो सजीवता का सहायक है। जीव में सजीवता का यदि अभाव है तो उसका जीवन वृथा। वृथा जीवन नहीं, मिथ्या का भाव वृथा। आनंदी भव ही यदि मिथ्या है तो सर्वत्र, मिथ्या ही मिथ्या का राज दिखाई देगा।

जगत् मिथ्या की उक्ति किसी भी व्यक्ति की क्यों न हो तत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती। मान्यता तथा भ्रान्ति के आधार पर जगत् मिथ्या की लोकोक्ति प्रचारित होती आई है। 'ब्रह्म सत्य' है और यह तो ठीक है या यों कहा जाये कि 'सत्य ही ब्रह्म' है, यह तो महा वाक्य है किन्तु जगत् मिथ्या कह कर भ्रान्ति का ही सृजन हुआ है, ब्रह्म की महत्ता नहीं। एक सच्चा एक झूठा यह कहना तुलनात्मक वाक्य हुआ। ब्रह्म की तुलना किसी भी भाव या वस्तु से करें, यह बुद्धिगत निर्णय होगा, तथ्यगत नहीं।

रस को ब्रह्म कहा गया तो क्या यह जगत् रसपूर्ण नहीं? नीरस जगत् को बनाकर क्या सृष्टिकर्त्ता ने भूल की है? नहीं, आनन्दी सत्य की

सृष्टि भी आनन्दपूर्ण है। मिथ्या का भाव ही मिथ्या है। मिथ्या या सत्य की मीमांसा करना धर्माचार्यों का कार्य रहा है, आनन्द ही, आनन्द देता है मीमांसा नहीं।

सुख को आनन्द की संज्ञा देना अल्पज्ञता है। सुख प्राप्ति के लिये धन अपेक्षित है, आनन्द तो अनुभूति के द्वारा प्राप्त होता है या स्वतः यह कहना भी कथन मात्र है, हाँ इस पार्थिव धन की उस तक (आनन्द तक) पहुँच नहीं। जहाँ सुख और आनन्द एक ही समझा जाता है, वासना और प्रेम में अन्तर नहीं ऐसा समझा जाता है वहाँ मिथ्या और सत्य पर क्यों विशेष ध्यान दिया जाने लगा?

तत्वदर्शी कौन? जिसने तत्व के दर्शन के लिये 'अहं' को भुलाया तथा अन्वेषण करते-करते तत्व में लीन हो गया। प्रश्न हो सकता है कि जब लीन ही हो गया तो दर्शी कैसे हो सकता है? उत्तर है कल्पना और अनुभूति भिन्न-भिन्न हैं, जब तक अनुभूति न हो। अनुभूति में कल्पना का स्थान कहाँ? लीन होने वाला ही सच्चा दर्शी है अन्यथा कल्पना ही कल्पना है जिसे बुद्धि बल तथा शाब्दिक माया-जाल के आधार पर दर्शी माना जाता है।

आनन्द का इच्छुक यदि सांसारिक वस्तु-वासना का भिक्षुक बन बैठे तो भक्ति और सन्तोष उसके लिये अलभ्य हो जायेंगे। भक्ति, संतोष अलभ्य नहीं यदि सच्ची लगन हो उनको प्राप्त करने की। आनन्द का खेल देखने के लिये भक्ति और संतोष अति आवश्य हैं।

भक्ति केवल माला जपना ही नहीं, आत्म समर्पण है। आडम्बर से ही यदि सत्य का आभास हो जाता, तो निरंतर भजन तथा आत्म अवलोकन निरर्थक सिद्ध होते। वस्त्र साधु नहीं बनाते, साधुता तो साधना प्रदान करती

है। साधना माला के द्वारा तभी प्राप्त होती है जब मन इष्ट में लीन हो। मन जब इष्ट में लीन हो गया तो माला हाथ की शोभा मात्र रह जाती है।

आनन्द को भूल प्राणी तन को कष्ट देना प्रारम्भ करता है, मन का दमन करना चाहता है। मन का दमन नहीं, शमन करना आवश्यक है। शमन समता में है विषमता में नहीं। समता ममता की उपासिका नहीं। समता एकत्व भाव की सहायिका है। एकत्व एक सत्य के मिलन में है। सत्य-सम्पूर्ण सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है।

जड़ चेतन का भेद तो मनुष्य की बुद्धि के कारण है। जड़ में सुप्त, चेतन में हलचल, किन्तु है वही सत्य। सत्य केवल वाणी का ही विषय नहीं, प्राणी की अनुभूति का विषय है। प्राणी यदि सत्य की अनुभूति न पा सका तो वृथा ही प्राणी ने प्राण गँवाये।

प्राणी को जहाँ सुख की आवश्यकता है वहाँ आनन्द की भी, किन्तु जो व्यक्ति यह कहे कि संसार में सुख कहाँ है यहाँ तो पूर्व जन्मों के कृत्यों का ही भोग है वह भला आनन्द के लिये क्यों व्याकुल होने लगा? जहाँ माला, वस्त्र की पूजा हो वहाँ सत्य और आनन्द तो पाठ्य सामग्री में ही रहेंगे। सत्य और आनन्द तो पाठ्य सामग्री नहीं, साधना तथा कृपा ही उनका मार्ग प्रदर्शन करेंगी। जो भक्ति के बाह्य प्रदर्शन में लगा है वह भगवान का दर्शन पा सकेगा यह आशा दुराशा मात्र है। जहाँ ढोंग और स्वांग प्रधान होंगे वहाँ जगत् को मिथ्या कहने वालों की संख्या अधिक ही होगी। जगत्-मिथ्या नहीं ऐसे लोगों का व्यवहार मिथ्या।

सत्य और मिथ्या का विवाद अच्छा नहीं। विवाद बुद्धि का खेल, आनन्द ब्रह्म का मेल। आनन्द ब्रह्म की स्थिति, मिथ्या कल्पना की गति।

कल्पना साकार जब आनन्दमय संसार। जीवन का सार आनन्द, आनन्द की प्राप्ति। कल्पना मिथ्या जब तक साकार न हो। साकार, निराकार धर्म प्रवर्त्तकों का द्वन्द। द्वन्द में आनन्द कहाँ? आनन्द तो मिलन में है। कुछ मिले तो आनन्द, कुछ ही क्यों, सब कुछ मिले तो आनन्द। सब में, कुछ में, सब कुछ में आनन्द ही आनन्द है। यह मानसिक दृष्टि है प्रथम कुछ में आनन्द पाता है क्रमशः सब में आनन्द ही आनन्द देखता है और पाता है।

क्या देखना ही पाना है? प्रथम देखेगा, चाहेगा तभी तो पायेगा। जो देखता ही नहीं, चाहता ही नहीं, वह पाने का अधिकारी कब हुआ? प्रश्न उठ सकता है कि क्या कथन मात्र से ही आनन्द प्राप्त हो सकता है जब कि सुख भी सरलता से प्राप्त नहीं होता? सुख के लिये वक्र गति का अवलम्बन सहायक शायद हो किन्तु आनन्द तो सरलता का पृष्ठ पोषक है। सहज भाव आनन्द वर्षण करता है। सहज की व्याख्या सहज (आसान) नहीं। हृदय का अनुराग प्रेम में परिवर्तित होता है तथा प्रेम की तुष्टि आनन्दमयी हो जाती है। आनन्द अंतिम अवस्था, अनुराग आरम्भ। अनुराग स्पर्श में नहीं, अनुराग अंतरात्मा की पुकार। पुकार बेकार नहीं होती, पुकार में बसा हुआ है संस्कार जो अनेक जन्मों की पूँजी है। पूँजी है पूज्य के लिये, कार्य हैं पूँजी के विकास के लिये। पूज्य पूँजी को पूजनीय बना देता है। पूँजी है शुभ कर्मों की, अशुभ कर्म तो ऋण हैं कर्ज है जिसे चुकाना ही फर्ज है, नहीं तो मानसिक मर्ज बढ़ता ही जाता है।

जहाँ रोग है, वहाँ राग अनुराग कहाँ? द्वेष का देश, देश को भी परदेश बनाता है। 'स्व' का देश स्वदेश। पर के भाव ने परदेश का भाव दिया। आनन्द में पर नहीं, परमभाव है, परमानन्द है।

आनन्द की खोज तो कोई भाग्यशाली ही करेगा। काम में आनन्द, धाम में आनन्द, नाम में आनन्द, सुबह शाम में आनन्द, रात प्रभात में आनन्द,

कार्य कारण में आनन्द, शयन जागरण में आनन्द, मृत्यु जन्म में आनन्द, लोक परलोक में आनन्द, गीता भागवत में आनन्द, श्रम विश्राम में आनन्द, भोजन स्वाद में आनन्द, गोकुल ग्राम में आनन्द, गीता भजन में आनन्द, कथावार्त्ता में आनन्द, घर बाहर में आनन्द, ऋतु परिवर्त्तन में आनन्द, सरिता सागर में आनन्द, प्रेम की गागर में आनन्द, अगर मगर में आनन्द, डगर नगर में आनन्द, भावना कामना में आनन्द, नवीन प्राचीन में आनन्द, केश वेश में आनन्द, अर्जुन श्याम में आनन्द, सीता राधा में आनन्द, मीरा कबीर में आनन्द, नानक जनक में आनन्द, फूल सौरभ में आनन्द, चन्दन-वंदन में आनन्द, क्रन्दन हास्य में आनन्द, शत्रु मित्र में आनन्द, विपत्ति सम्पत्ति में आनन्द, गुरु शिष्य में आनन्द, भजन भाव में आनन्द, सरल गरल में आनन्द, असल नकल में आनन्द, स्वर्ग नरक में आनन्द, धरा नभ में आनन्द, वायु आयु में आनन्द, काम राम में आनन्द, धर्म कर्म में आनन्द, नरम गरम में आनन्द, रहस्य मर्म में आनन्द, आनन हृदय में आनन्द, कानन शोभा में आनन्द, शमन दमन में आनन्द, श्रवण मनन में आनन्द, देव दानव में आनन्द, प्रीति रीति में आनन्द, नीति शान्ति में आनन्द, अत्र तत्र में आनन्द, यंत्र मंत्र में आनन्द, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द।

ॐ

अनन्त का चक्र

काल का प्रवाह अनन्त है। काल समय, काल मृत्यु। मृत्यु प्राणी की, काल की मृत्यु कहाँ? अनन्त भगवान, अनन्त चक्र की गति। चक्र सुदर्शन। दर्शन प्रकृति का, सुदर्शन सृष्टिकर्त्ता का। प्रकृति का दर्शन कर प्राणी प्रसन्न तो सुदर्शन का भी दर्शन सम्भव।

एक चक्र बाहर, एक चक्र भीतर। बाहर चक्र स्थूल प्रकृति का, भीतर सूक्ष्म का। सूक्ष्म के अनेक रूप अनेक भाव। भाव और रूप ने भव का मंगल ही किया है अमंगल नहीं, फिर कार्यक्रम के चक्र को देख कर प्राणी व्याकुल क्यों? प्राणों की धड़कन, स्पंदन तो प्राणी को सजीव बनाती है व्याकुल नहीं। यह चक्र तो प्राणों को गतिशील बनाता है व्याकुल नहीं।

अनन्त का चक्र ही ऐसा है कि समझ पाना सरल नहीं। नदी का तीव्र प्रवाह सागर सम्मेलन का द्योतक है, चंचलता का नहीं, व्याकुलता का नहीं। चक्र भी अनन्द दर्शन के लिये है कष्ट भोग के लिये नहीं।

चक्र रक्षक है, चक्र भक्षक है। रक्षक जानकार के लिये, भक्षक अज्ञानी के लिये। ज्ञान, अज्ञान मन बुद्धि का चयन। चैन से रहे तो चयन सुन्दर। बेचैनी तो मन की बदसूरती है।

बदसूरती वह भी भीतर की अवश्य ही अंग प्रत्यंग पर बुरा प्रभाव ही डालती रहती है। रहती है अतः इससे मुक्त होना भी कठिन है। रोग है तो उसकी औषधि भी है। औषधि है सुधि-स्मृति। स्मृति शुभ कार्यों की। शुभ कर्म ही मन की बदसूरती का निवारण करते हैं।

यह चक्र है विचारों का और है यह अनन्त। इन विचारों में कुछ ऐसे भी विचार हैं जो कुहासा का काम करते रहते हैं। निर्णय ही इन्हें शान्त कर पाते हैं। यह निर्णय भी क्षणिक शान्तिप्रद होता है। विचारों का चक्र ही ऐसा है।

जीवन रूपी रथ के दो चक्र (पहिये) भलाई, बुराई। भलाई का चक्र यदि सुगमता से चले तो जीवन में बसन्त और दुर्भाग्यवश बुराई का चक्र चला तो पतझड़। वृक्ष से पत्ते गिर रहे हैं प्रकृति शोभा हीन हो रही है। व्यक्ति के कुकृत्य भीतरी प्रकृति को विकृत करते रहते हैं। यह चक्र निरन्तर गतिशील रहता है। कुछ जाग्रत अवस्था में कुछ स्वप्न में भले बुरे विचारों का चक्र चलता ही रहता है। सुप्त अवस्था में भी शान्त नहीं होते, छिपे रहते हैं। वह भाव जो सुप्त अवस्था में अनुपस्थित सा प्रतीत होता है वह जाग्रत अवस्था में कार्यों की उत्तेजना के कारण प्रकाश में आता है।

चेतन अवचेतन मन की परिभाषा तथा व्याख्या भी मनोविज्ञान के विद्वानों ने की है। किन्तु यह भी विचारों का चक्र है और है अनन्त। इस अनन्त चक्र ने अनेक धारणाओं को जन्म दिया और ये धारणायें भी अनेक चक्रों का कारण बन जाती हैं। आज की धारणा कल के लिये पुरातन।

नवीन पुरातन, पुरातन नवीन यह भी एक चक्र है। तन और मन की पूर्णता का चक्र आज भी चल रहा है। कर्म, धर्म के नाम पर अबाध गति से चक्र चलता आ रहा है। शव को जलाना, दफनाना, वृक्षों पर लटकाना, जल में प्रवाहित करना, मृत्यु के पश्चात निर्णय दिवस की कल्पना करना, शरीर का रूपान्तरित होना, स्वर्ग नरक का सुन्दर तथा बीभत्स चित्र शब्दों द्वारा प्रस्तुत करना ये विचारों के चक्र भी चलते ही आ रहे हैं। चक्रों का अन्त नहीं इसलिये अनन्त हैं।

अनन्त का चक्र अद्‌भुत है। अनन्त के अजस्र प्रवाह में अनन्त आकृति बन रही हैं और विलीन हो रही हैं यह प्रवाह भी अनन्त ही है। कवि

काव्य की, गायक संगीत की, व्यापारी धन की, कृषक कृषि की, चित्रकार नवीन चित्र की उपासना में संलग्न है और अनन्त का चक्र ज्यों का त्यों चल रहा है। साधक इस चक्र को तथा चक्रधारी को समझने का प्रयास कर रहा है। यह भी एक चक्र है।

शरीर और मन का, मन और बुद्धि का, बुद्धि और अहंकार का, अहंकार और सूक्ष्म अहंकार का, सूक्ष्म अहंकार और सोऽहं का चक्र ये अनेक चक्र तन तथा मन को व्याकुल बनाते रहते हैं। चक्रों का समूह महाचक्र में अनवरत चलता रहता है। महाचक्र को वसुन्धरा कहें या प्रकृति यह भी विचारों का चक्र है। धरा ने धारण किया प्राणी को, प्रकृति ने अपनी गति का प्रभाव उत्पन्न प्राणी पर किया यह भी चक्र ही है।

चक्र - चक्र - चक्र और वह भी अनन्त। पृथ्वी चक्र काट रही है। चन्द्र चक्र काट रहा है, भास्कर स्थित है किन्तु ऐसा कथन भी पूर्ण सत्य नहीं। अनन्त के महाचक्र में सूर्य भी चक्र काट रहा है। अद्‌भुत है चक्र की गति जहाँ भ्रम ही अधिक देखा जाता है यथार्थ यदा-कदा।

चक्र ने प्राणी को बेचैन कर रखा है या प्राणी के विचारों ने यह भी एक प्रश्न हो सकता है? प्रश्न का उत्तर वह दे सकेगा जो इस चक्र का अवलोकन कर सके। ऐसा प्रतीत होता है कि चक्र काटती हुई पृथ्वी पर भी मनुष्य चलता है, बैठता है, सोता है, भोजन करता है उसी प्रकार इस चक्र के अन्तर्गत भी मनुष्य स्थिर होकर अवलोकन कर सकता है यदि अन्तःकरण की गति पर ध्यान रख सके।

अनन्त चक्र और अनन्त का चक्र। अनन्त चक्र इस और ध्यान देनेवालों की संख्या भी अधिक नहीं और अनन्त का चक्र समझ पाना तो

अनन्त की कृपा के बल पर ही सम्भव हो सकता है। अनन्त को प्रकृति कहें या परमेश्वर या प्रभु या कुछ न कहें यह भी विचारों का चक्र है। ये कहने वाले, ये उपेक्षा करने वाले, भी चक्र से मुक्त नहीं।

कुछ समझा, कुछ देखा तो कुछ कहना आरम्भ किया। अबोध मनुष्यों के लिये वही रहस्य बन गया, धर्म बन गया। कैसा भूल भुलैया है। विचारों के चक्र, विकारों के चक्र, चक्र ही हैं तथ्य का पूर्ण रूप नहीं।

तथ्य के एक अंग को प्रधानता देने वाला व्यक्ति यदि सम्पूर्ण को देख पाता तो ये चक्र इतने तीव्र न होते। व्यक्ति को कुछ शान्ति मिलती, चक्र को देखता हुआ, उसकी गति को देखता हुआ कुछ समझता, कुछ शान्त होता। "अपनी-अपनी डफली, अपना - अपना राग" गाने बजाने वाले आज भी उसी चक्र में लगे हैं।

रंग एक भी है और रंग अनेक भी। एक ही रंग, रंग है और अनेक रंग व्यर्थ हैं, रंग नहीं यह भी विचारों का चक्र है। "मेरा धर्म महान, अन्य धर्म शैतान" कहने वाले व्यक्ति सत्य को न मानने वाले हैं और न समझने वाले। आंशिक सत्य, अंश है पूर्ण नहीं।

आंशिक सत्य क्या है? पूर्ण का कुछ अंश प्रकाश में आया ज्ञान-ज्योति से। यदि व्यक्ति उस अंश मात्र को पूर्ण समझ बैठे तो यह उसका भ्रम मात्र है। भ्रम की पुष्टि के लिये अनेक ग्रंथ लिखे गये और कहा गया इन ग्रंथों का पठन-पाठन भ्रम निवृत्त करेंगे किन्तु ऐसा हुआ कहाँ? यदि ये ग्रंथ व्यक्ति के भ्रम की ग्रंथी खोल पाते तो सृष्टि का रूप ही दूसरा होता। बुद्धि के चक्र ने ही मनुष्य को परेशान कर रखा है, अहंकार का चक्र तो अधिक भ्रमपूर्ण है। अहंकार के चक्र ने व्यक्ति का कितना अहित किया है कल्पनातीत है।

अहंकार को कहीं अभिमान कहा गया और कहीं स्वाभिमान। जो स्व को नहीं जानता वह स्वाभिमान कहने का कहाँ तक अधिकारी है यह विचारणीय है। कौन विचार करे और क्यों विचार करे उसे तो अहंकार ही अति प्रिय है। इसी अहंकार और बुद्धि बल पर धर्माचार्यों ने अपने अहंकार का ही प्रदर्शन किया। व्यक्ति को, सत्य के आंशिक रूप को पूर्ण घोषित कर भ्रम के चक्र में ही डाला। अहंकार की प्रज्वलित अग्नि पर इन ग्रंथों ने विचार रूपी घृत ही अधिक डाला, शान्ति रूपी जल की वृष्टि न कर पाये, क्योंकि उन उपदेशों में बुद्धि और अहंकार छद्मवेश में कार्य कर रहे थे और आज भी वह चक्र चल ही रहा है और शायद किसी न किसी रूप में चलता ही रहेगा।

निरभिमानी व्यक्ति तथ्य को अधिक प्रकाश में लाने के लिये प्रयास करता है किन्तु ये अहंकारी अहंकार को ही देखते हैं सत्य को नहीं। पृथ्वी पर वास करने वाला प्राणी ९ करोड़ की दूरी पर स्थित सूर्य का दर्शन करता है किन्तु हृदय में स्थित अपने आत्मदेव (बलदेव) के दर्शन पाने का प्रयास न करे यही महदाश्चर्य की बात है। कबीर ने कहा था "तेरा साईं तुज्झ में जाग सके तो जाग।" मनुष्य ने कहाँ उस पर ध्यान दिया। जिन्होंने दिया उन्हें अनुभूति भी हुई। आँखें स्थूल वस्तुओं तथा प्राणियों को तो देखती हैं अपने को ही देखने में असमर्थ हैं। आँखों ने अपने को भी देखा जब सम्मुख आईना देखा, जल देखा। सन्त का हृदय जलवत् तरल एवं सरल है। शीशे से भी अधिक 'स्व' रूप के अवलोकन में सहायक है।

आकर्षण स्थूल का, सूक्ष्म का। स्थूल की गति ससीम, सूक्ष्म की गति असीम। असीम में सभी भावनाएँ तथा स्थूल सूक्ष्म निहित है। हित इसी में है कि वह निहित का भी अनुभव करे। अन्यथा चक्र का चक्र तो अपना कार्य कर ही रहा है प्राणी व्याकुल होगा और इस धराधाम पर बार-बार आता रहेगा और पश्चाताप करता रहेगा। यह भी विचारों का चक्र ही है उसे पूर्ण कहना, पूर्ण की महिमा को लघु करना है।

दृष्टि की गति तथा शक्ति के अनुसार ही मनुष्य किसी वस्तु तथा भाव तक पहुँच सकता है तथा देख सकता है। यह देखना भी अपना रहस्य रखता है, कुछ को हम चर्म चक्षुओं से देखते हैं, कुछ को ज्ञान चक्षु से। ज्ञान चक्षु का कोई रूप नहीं। अरूपी को अरूपी ही देखता है। चर्म चक्षुओं की वहाँ तक गति कहाँ? यह भी विचारों का चक्र ही है। जो कुछ कहा गया, लिखा गया वही ठीक है तथा अन्य विचार भ्रमात्मक हैं यह हठ धर्मी ही कह सकता है, विचारशील व्यक्ति नहीं।

जन-रूचि के अनुसार किसी 'वाद' या धर्म का सृजन नहीं होता, प्रकृति स्वयं परिवर्त्तनशील है, अतः प्राणी प्रकृति से प्रभावित होता हुआ नवीनता का इच्छुक है। जन-रूचि प्रचार तथा प्रभाव से बनती रहती है, बदलती रहती है। यह भी चक्र है। अनन्त के ऐसे ही अनेक चक्र हैं, जिन्हें समझ पाना सरल नहीं। सरल हो या कठिन फिर भी मनुष्य अनवरत रत है, अनुरक्त है, चक्र का रहस्य समझने के लिये।

जिज्ञासा जीवन है जीव का, उपेक्षा न प्रसंशनीय है और न शोभनीय। प्रकृति का प्रभाव प्राणी पर होता ही रहता है, मनुष्य ने पराजय कब स्वीकार की? जिस दिन वह पृथ्वी पर आया, उसने पृथ्वी तथा निर्माता का रहस्य समझने की सतत् चेष्टा की और आज भी वह सचेष्ट है। कहाँ तक उसे सफलता मिली, यह कहना कठिन है। हाँ, यह कार्य अति अल्प व्यक्तियों ने किया है। उसने भूगर्भ-विद्या सीखी तो नभ की गति विधि पर भी ध्यान दिया। सूर्य, चन्द्र की गति विधि का अवलोकन करने वाले ने ह्रदय स्थित अपने 'स्व' से परिचय प्राप्त करने में वह उत्साह न दिखलाया जो उसने पृथ्वी और आकाश को समझने में। स्थूल की सूक्ष्म स्थिति की जानकारी उसके लिये प्रिय थी और प्रिय की उपेक्षणीय। बाहरी हलचल को सन्तुलित करने का प्रयास आज भी चक्रवत् चल रहा है, भीतर का हाहाकार कैसे

शान्त हो उसकी ओर वह क्यों ध्यान देने लगा? अग्नि प्रज्वलित है ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध की इसे बाहरी अनुसन्धान, आविष्कार क्या कभी शान्त कर सकेंगे? कदापि नहीं।

विचित्र है मानव प्रकृति, जिस ओर आकृष्ट होती है, उस ओर की प्रवृति उत्तरोत्तर आवृति, पुरनावृति करती ही जाती है। प्राचीनकाल के मनीषियों ने जहाँ ज्ञान चर्चा में समय बिताया, बाहरी प्रकृति प्रायः उपेक्षित सी रही, वहाँ आधुनिककाल के विज्ञानियों ने बाहरी रहस्य में रमण किया आभ्यन्तरिक प्रकृति उनके लिये अविचारणीय-सी ही है। यों तो मनोवैज्ञानिकों ने मन की काल्पनिक व्याख्या कर पांडित्य प्रदर्शन किया।

किसी भी जानकारी के लिये साधना की आवश्यकता होती है। कल्पना तो साधना नहीं, कल्पना में भी कभी-कभी सत्यांश रहता है, यथार्थता का बोध तो साधना ही सम्पन्न करती है। साधना सम्पन्न व्यक्ति ने कल्पना को भी रूप दिया। रूप छाया है, अरूप स्थिती। अरूप में स्थिति तथा गति, दोनों ही विद्यमान रहती हैं। शिवत्व में जीवत्व का भी स्थान है। शरीर के भीतर-बाहर चैतन्य का विहार प्रत्येक मुहूर्त्त होता रहता है। आवरण वस्तु को नष्ट नहीं कर सकता, छिपा कर ही रखता है। स्थूल भी सूक्ष्म को आच्छादित करके रखता है। उसकी (सूक्ष्म) सत्ता ज्यों को त्यों रहती है। म्यान की भीतर ही तलवार है, खाली स्थान तो कल्पना है।

विचारों का घटाटोप या चक्र तथ्यांश को प्रकाश में भी लाता है और छिपाता भी है। चक्र की गति, अनन्त चक्र की गति का अवरोधक कौन? प्रकृति भी उसी धर्म का पालन करती हुई चली आ रही है, चली जा रही है। अनन्त की महिमा व्यक्त करने में व्यक्ति असमर्थ है, वह (व्यक्ति) चक्र में स्वयं फँसा है। द्वन्द ही दुनिया है, द्वन्दातीत तो कोई निर्द्वन्दी ही होता है।

अनन्त का उपासक चक्र को नहीं देखता, अनन्त ही उसका उपास्य देव है। भक्षक ही यदि रक्षक बन जाता है, तो रक्षा ही होती है, विनाश नहीं। "समय का सदुपयोग रक्षक, दुरुपयोग भक्षक"। जहाँ रक्षक ही स्वार्थवश भक्षक बना हुआ है, वहाँ भक्षक रक्षक भी हो सकता है, उसे मानेगा कौन? स्थूल में विचरण करनेवाले व्यक्ति के लिये अवश्य ही यह बात अविश्वासनीय है, किन्तु जिन्होंने साधना को अपनाया है, उनके लिये असम्भव भी सम्भव हुआ है। बुद्धि प्रधान व्यक्ति इसे मानें या न मानें, यह चक्र तो ऐसा ही है। प्रकृति का लाभ वही व्यक्ति उठा सकेगा, जो इसके चक्र की गति को जान, गति में स्थित अनन्त को पहिचानेगा।

विनाश अविनाशी का नहीं होता, अविनाशी तो चक्र चलाता हुआ भी अविनाशी ही है। मोहासक्त प्राणी तो चक्र से भी भयभीत होता रहता है, किन्तु उसका भय उसी के लिये दु:खप्रद है। चक्र तो चलता ही रहेगा। अनन्त का चक्र चला आ रहा है और चलता ही रहेगा यह उस व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि चक्र को समझे, अनन्त को समझे और समझे अनन्त के चक्र को।

काल का विभाजन कैसा? मनुष्य ने अपनी सुविधानुसार इसके विभाजन किये - भूत, भविष्य, वर्त्तमान के रूप में। आज जो वर्त्तमान है, वह कल भूतकाल कहलाता है, किन्तु बीते हुए काल में जो वर्त्तमान है वही भविष्य था। यह काल का "आगा-पीछा" ही मनुष्य के लिये विचारणीय बन जाता है। गति तो अबाधगति से अग्रसर हो रही है, मनुष्य समय की गति को भूत, भविष्य, वर्त्तमान कह कर अपनी शंका समाधान करता आ रहा है। यह समाधान मनुष्य का अपना ही विवेचन है, समय की गति का नहीं। समय का उपयोग यदि शुभ कार्य में हुआ तो सदुपयोग कहलाया अन्यथा समय बहता चला जा रहा है, वह निरर्थक नहीं, अकर्मण्यता ही उसे निरर्थक बनाती है। यह तो समय की गति-विधि है।

अब यदि जीव की गतिविधि पर ध्यान दिया जाये तो वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं। उसके शुभ कर्मों ने सतयुग की स्थापना की तो कलियुग की भी। यह जीव की विचार-धारा रही, जिसने सत्य को प्राप्त करने के लिये अनेक कष्ट सहन किये। आज कष्टों की निवृति के लिये असत्य को अपना रहा है। है न जीव आश्चर्यजनक? एक ओर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को हृदय में धारण करता है और दूसरी ओर अपने को महापाणी समझ बैठता है। यह भी तो विचारों का ही चक्र है। इस चक्र ने उसे (जीव को) अनेक खेल दिखलाये और अभी अन्त कहाँ, न जाने और भी क्या-क्या देखेगा, कहा नहीं जा सकता। अनन्त का चक्र ही ऐसा है।

क्षणिक-वैराग, अल्प-ज्ञान, निरर्थक-कर्म, मनुष्य को शान्ति नहीं दे पाते। चाहिये अथक साधना, तीव्र जिज्ञासा, शुभ कर्म का अनुराग। इन शुभ कर्मों का चक्र ही उसका रक्षक बनेगा अन्यथा प्राणी को शान्ति कहाँ प्राप्त होगी? श्वास नियमित चल रहा है तो प्राणी को श्वास का कोई कष्ट नहीं, अनियमित श्वास ही कष्ट का कारण बन जाता है। जीवित रहने के लिये हृदय की धड़कन आवश्यक है तो प्राण को प्रफुल्ल रखने के लिये शुभ विचार भी।

ये अशुभ विचार कहाँ से आये? प्राणी प्रश्न न कर यदि अपनी गतिविधि की ओर ध्यान दे तो प्रश्न ही नहीं उठेगा। विचारों के चक्र ने उसे ऐसा भ्रमित कर रखा है कि वह समझ नहीं पाता कि क्या हो रहा है। जहाँ उसकी समझ पराजित हो जाती है, वहाँ भाग्य की बातें कहने लगता है। भाग्य तो अच्छा ही था कि उसे समझने के लिये, साधना के लिये अवसर प्राप्त हुआ किन्तु प्राप्त का उपयोग उसने उचित ढंग से न किया तो भाग्य को कोसने लगा।

यह अवस्था है सृष्टि के श्रेष्ठ जीव की, अन्य जीवों की तो कथा ही निराली है। "जीवो जीवस्य जीवनम्" का सिद्धान्त कार्य कर रहा है।

"मनुष्य अपने में पूर्ण नहीं" यह भी एक सिद्धान्त है अपूर्णता भी अशान्ति का कारण है। अपूर्णता रहेगी और है जब तक वह पूर्ण परमात्मा को न जाने, न माने। व्यक्ति या वस्तु उसकी अपूर्णता को पूर्ण न कर पाये और न कर सकेंगे। ह्रदय स्थित अनन्त देव (बलदेव) ही उसे ऐसी शक्ति देगा कि वह त्रिकाल में भी अपूर्णता का अनुभव न करे। यदि कामिनी और कांचन की प्राप्ति ही पूर्णता प्रदान करने वाली होती तो गृहस्थ, सभी गृहस्थ पूर्ण ही होते, किन्तु ऐसा हुआ कहाँ? जहाँ कामिनी कांचन को भक्ति का बाधक मानने वाले साधु-महात्मा हैं, वहाँ ऐसे भी योगी हुए हैं जिन्होंने इन्हें (कामिनी कांचन को) बुरा न माना और अपने पथ पर अग्रसर होते गये। विचारों का चक्र ऐसा ही है।

"जितने मत, उतने ही पथ" यह भी विचार ही है। चक्र भी गोल, पृथ्वी भी गोल। गोलाकार वस्तु प्राणी को अधिक चक्र खिलाती है। अन्य चक्र कुछ कष्ट प्रद होते हैं, किन्तु विचारों का चक्र अति प्रबल। प्रबल और अबल की प्रतिद्वन्दिता चली आ रही है। कहीं-कहीं अबल भी सबल को पराजित कर देता है, यद्यपि ऐसा होता है कम। गम के चक्र में रहने वाला प्राणी यदि गम को कम कर सका या समय ने कम कर भी दिया तो चक्र की गति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। चक्र की चर्चा चक्र के गुण-अवगुण के लिये नहीं, बल्कि अनन्त का चक्र समझने के लिये है। अनन्त न स्वयं अन्त को प्राप्त होता है न चक्र। चर्चा भी होती है और होती ही रहेगी पुस्तकों के द्वारा, मनुष्य के द्वारा।

मनुष्य के आवागम का चक्र भी एक चक्र ही है। चक्र से रक्षा के हेतु मनुष्य अनन्त को मानता है भगवान के रूप में, प्रकृति के रूप में। धर्म

अनेक, कर्म अनेक, इन अनेकों के भीतर भी अनन्त का चक्र कार्य कर रहा है। समझ-बूझ पराजित अल्पज्ञ प्राणी सर्वज्ञ के चक्र को जिस दिन समझ पायेगा, उस दिन वह भी सर्वज्ञ का ही हो जायगा। चक्र की विशेषता को भी विशिष्ट व्यक्ति ही समझ पाते हैं, अन्य यों ही आते हैं और यों ही जाते हैं। मन और अहंकार के चक्र की चर्चा तो कुछ हुई, किन्तु यह बुद्धि का चक्र तो और भ्रमात्मक है। भ्रम में ही जब व्यक्ति रम रहेगा तो चक्र तथा अनन्त को क्या समझेगा?समझे या न समझे, अनन्त का चक्र तो यों ही चलता रहेगा। अनन्त चक्र को नमस्कार।

ॐ

भक्ति ही क्यों ?

प्रश्न बड़ा ही जटिल है, विशेषत: उस व्यक्ति के लिये, जिसे अपनी बुद्धि पर बड़ा अभिमान है, कि भक्ति ही क्यों की जाये। यह कार्य तो उन लोगों के लिये है, जिन्हें भगवान को प्राप्त करना है। ज्ञानी कहता है भगवान की भक्ति करो, भौतिक विज्ञानी कहता है भूमि की, प्रकृति की।

भूमि बड़ी या भगवान महान्? भूमि और भगवान ने मनुष्यों को दो श्रेणियों में विभक्त कर रखा है। भूमि का उपासक कहता है अज्ञात भगवान है या शैतान इस विवाद में क्यों समय व्यर्थ व्यतीत करते हो, सम्मुख है भोजन का प्रश्न इसे हल करो। हल चलाओ बुद्धि का कि हल हो भरण-पोषण की समस्या।

ज्ञानी कहता है कि क्या तन का भोजन ही प्रधान है, मन का भोजन नहीं? मन का भोजन तो भक्ति ही होगी। विज्ञानी कहता है कि मन बहलाने के लिये तो हमने ऐसे-ऐसे आविष्कार किये हैं कि तुम्हारी भक्ति की कथा मनुष्य को लुभा न सकेगी। कहाँ है वह तुम्हारा भगवान, जिसके गीत गाने की तुम बातें कहते हो?

हमें देखो, हमारे विज्ञान के आविष्कार के चमत्कार देखो, तुम ही नहीं, तुम्हारा भगवान भी चक्कर में पड़ जायेगा किहमने कैसे - कैसे अनोखे आविष्कार किये हैं और करते ही जा रहे हैं।

ये बातें विज्ञानी का अहंकार कहता है। वह यह नहीं समझ पा रहा है कि उसने उन तत्वों का उपयोग मात्र किया है, जो पृथ्वी के गर्भ में स्थित हैं। वस्तु न होती, तत्व न होते तो उसके आविष्कार कहाँ हो पाते? विराट विश्व

के कोष में कौन-कौन सी वस्तुएँ छद्मवेश में आज भी प्रकाश में आने के लिये लालायित हैं इसे कौन जानता है? तत्व विशेष का उपयोग बुरा नहीं, अभिमान बुरा। यदि कुछ था नहीं तो कुछ आया कहाँ से? कुछ का उपयोग भी तो सब कुछ नहीं। उपयोग हुआ तो उपभोग भी हुआ, उपभोग ने शान्ति दी या क्रान्ति? शान्ति क्षणिक, क्रान्ति विप्लव का रूप दिखला रही है।

नवीन आविष्कारों ने मनुष्य का पशुत्व जगाया, देवत्व नहीं। देवत्व की सहायिका भक्ति है। भक्ति शक्ति देती है और देती है अविनाशी प्रेम, जिनके अभाव में संसार शुष्क, नीरस हो रहा है। पृथ्वी के गर्भ में अनुपम प्रेम की ज्योति जगमगा रही है। केवल अन्न ही नहीं, बहुमूल्य रत्न भी दे रही है जिन्हें पाकर मनुष्य वैभव सम्पन्न होता है। विपन्न हो रहा है मनुष्य विज्ञान के चमत्कारों से। विज्ञान बुरा नहीं आज इसका उपयोग विनाश की ओर ले जा रहा है।

भक्ति और विज्ञान का विवाद नहीं, प्रतिद्वन्दिता नहीं, किन्तु ये भौतिक विज्ञानी न जगतनियन्ता को मानते हैं और न भक्ति को।

विज्ञान ने इहलौकिक चमत्कार दिखलाये तो भक्ति ने पारलौकिक तथा इहलौकिक। सच्चा भक्त कण-कण में अपने स्वामी का दर्शन करता है। भक्त का कोई शत्रु नहीं होता, वह सम्पूर्ण विश्व को उतना ही प्यार करता है जितना अपने प्राणप्रिय प्रभु को। प्रभु की बनाई हुई सृष्टि उसका (भक्त का) अपना विराट गृह है। भक्त प्यार करता है प्रभु को, उसकी सृष्टि को अथच प्यार के लिये ही उसे प्राण मिले हैं, विकलता के लिये नहीं, विपन्नता के लिये नहीं।

विज्ञानी ने गिर्जे देखे, मन्दिर-मस्जिद देखी, भक्ति न देखी, भक्त न देखे। देखे हैं तथाकथित भक्त जो भगवान को बदनाम करते हैं जैसे विज्ञानी

विज्ञान को। विज्ञान है, विशेष ज्ञान है तो इर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अभिमान को निर्मूल करने की चेष्टा करे न कि इनको बढ़ाने की। ग्रंथो ने अधिक ग्रंथियाँ बढ़ाई तथा सुलझाई कम, विज्ञानी ने भी द्वेष, इर्ष्या को बढ़ावा दिया, सुख को उस रूप में न बढ़ा सका।

भौतिक विज्ञानी और भक्त का विवाद नहीं किन्तु देखा जाता है कि इन विज्ञानियों ने ही भक्तों की खिल्लियाँ उड़ाई। दिल्लगी की वस्तु भक्ति नहीं, दिल लगी की है। जहाँ दिल लगाने के अनेक साधन प्रसाधन हैं वहाँ निर्दोष साधन भक्ति है। जहाँ भक्ति है वहाँ शक्ति है। जहाँ विरक्ति और अभिव्यक्ति है वहाँ शक्ति का दुरुपयोग है। विरक्ति संसार की, अभिव्यक्ति निरर्थक भावों की मनुष्य को शान्ति नहीं दे पाती। विरक्त क्यों हुआ, अनुरक्त होता भक्ति में तो रक्त मन को, तन को नवीन चेतना देता। विरक्त की दृष्टि में सांसारिक सभी भाव मोह-बन्धन के कारण हैं, समझता है (विरक्त) कि विरक्ति उसे मानसिक शक्ति देगी, 'स्व' परिचय की भक्ति देगी, किन्तु भूल करता है वह प्राणी जो विरक्ति को साधन बना कर साधना को सार्थक बनाना चाहता है। अनुरक्ति का वह भक्त होता तो उसे यह संसार बन्धन का नहीं, मोक्ष का भी कारण प्रतीत होता। जहाँ विरक्त श्रद्धा का पात्र बन जाता है वहाँ भक्त भी अपना स्थान पाता है। विरक्त यदा-कदा पथ स्खलित देखा जाता है वहाँ भक्त सदा प्रभु-प्रसाद से भक्ति पथ पर अग्रसर होता जाता है। कारण यह है कि विरक्त को अभिमान रहता है अपनी विरक्ति पर किन्तु निरभिमानी व्यक्ति ही भक्त होता है। अहंकार का दुष्परिणाम पद-पद पर देखा जाता है।

भक्ति साकार की, भक्ति निराकार की। साकार भक्ति का वर्णन धर्माचार्यों ने 'नवधा' के रूप में किया। निराकार की भक्ति निराली है। भक्त अपने को ज्ञानी समझता है, अपने को ही ब्रह्म समझता है। यह भी एक प्रकार की भक्ति ही है किन्तु ये ब्रह्मज्ञानी अपने को भक्त कहना अनुचित ही नहीं,

अपमानित होना समझते हैं। यह भी समझ का फेर है। ब्रह्म की स्थिति सर्वत्र व्याप्त है, ब्रह्म केवल उन ब्रह्मज्ञानियों की ही सम्पत्ति नहीं ब्रह्म सबका है। ये कैसे ज्ञानी हैं जो ब्रह्म का संकुचित भाव ही लेते हैं? आकाश और पृथ्वी सबके लिये समान भाव से रक्षा कार्य करते हैं, लाभ उठाना व्यक्ति का कार्य है। ज्ञान यदि अभिमान की वृद्धि करे तो उसे अज्ञान ही कहना उचित होगा। जो ज्ञान मिथ्या का भाव देता है उसे ज्ञान कहा जाये या ज्ञान का अभिमान। भक्त! को देखो वह अपने प्रिय की झाँकी सर्वत्र देखता है।

"भक्ति ही क्यों" का उत्तर देना सरल तो है किन्तु भौतिक विज्ञानी तथा ब्रह्मज्ञानी को रुचिकर प्रतीत होगा यह आशा दुराशा मात्र है। अभिमानी शीघ्र ही किसी की बात स्वीकार करे ऐसा देखा नहीं जाता। उसका अभिमान ज्ञान का अभिमान यदि स्वीकार कर बैठा तो पराजय न हो जायेगी।

भौतिक विज्ञानी प्रत्येक बात का आकार चाहता है। निराकार को वह क्यों मानने लगा? शान्त होकर विज्ञानी सोचे तो स्वीकार करना होगा कि आज उसने जिसे रूप दिया है वह शक्ति भी निराकार ही थी। वस्तु प्रत्यक्ष, शक्ति अप्रत्यक्ष (निराकार)। जिस लगन से भौतिक वस्तुओं का उसने अनुसन्धान किया तथा उसे आविष्कार कहा, वही लगन निराकार को साकार रूप देती है। यह तो लगन है, भक्ति है जो असम्भव को भी सम्भव बना देती है। इसके अनेक रूप हैं।

भक्ति का दूसरा नाम साधना है। साधना शब्द का प्रयोग आधुनिक काल में अधिक प्रचलित है। आज चित्रकार, कथाकार, प्रवर्चनकर्त्ता, भाषण का वक्ता भी अपने कार्यों के लिये साधना शब्द का प्रयोग करता है। शब्द का प्रयोग समय-समय पर बदलता रहता है। साधना शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित होते हुए भी उसके महत्व को कम न कर पायेगा। आज लगन के

अर्थ में साधना शब्द का प्रयोग हो रहा है जब कि प्राचीनकाल में भक्ति के लिये ही साधना शब्द का प्रयोग था। यह तो प्रयोग है किसी एक व्यक्ति ने भावुकता में आकर इसका प्रयोग किया, अन्य व्यक्ति यों ने व्यक्ति विशेष का अनुकरण किया और शब्द का प्रयोग अधिकता से होने लगा।

तप की महिमा प्राचीनकाल से होती आई है। किसी ने धूनि रमाकर तप किया, किसी ने मन लगा कर। तप एक ओर शारीरिक कष्ट सहने की शक्ति देता है, दूसरी ओर मानसिक कष्ट। शारीरिक कष्ट सहने वाले व्यक्ति की अधिक ख्याति होती है किन्तु मानसिक कष्ट सभी कष्टों से दुःखदाई होता है। तन का दुःख अवधि पाकर दूर भी हो जाता है किन्तु मानसिक कष्ट भक्ति ही शान्त करती है।

मन की विकलता के अनेक कारण होते हैं तथा समय-समय पर वे वृद्धि पाते हैं, कभी-कभी ह्रास भी होते हैं किन्तु ऐसा समय यदा-कदा ही आता है। बाहरी अग्नि, जल मिट्टी से शान्त होती है किन्तु भीतरी जलन को भक्ति ही शान्त करती है। भक्ति आधार देती है, इष्ट देती है और देती है वह भाव जहाँ चिन्ता स्वयं भस्मीभूत हो जाती है।

व्यक्ति की शक्ति होती है असीम जब वह भक्त हो जाता है अन्यथा व्यक्ति परिस्थितियों का दास हो जाता है और उदास रहता है। इस उदासी का अन्त कहाँ? उदासी का अन्त होता है जब अनन्त का दास हो जाता, परिस्थितियों का नहीं।

भक्त को दास कहने की एक परिपाटी सी चली आ रही है। भक्त दास नहीं वह प्रभु का प्रिय बन जाता है। अहंकार शून्यता के लिये दास कहलाया अन्यथा भक्त और भगवान में अन्तर नहीं रह पाता जब भक्त पाता है प्रभु का पूर्ण प्रेम।

क्या प्रेम में भी पूर्णता, अपूर्णता रहती है? प्रेम में पूर्णता, अपूर्णता नहीं, अवस्था में पूर्णता, अपूर्णता। भाव में (भक्त) भगवान, अभाव में इन्सान, दूषित भाव में शैतान। शैतान में बुद्धि विशेष, इन्सान में अज्ञता - अभिज्ञता। साधारण जन की अभिज्ञता अहंकार को प्रश्रय देती है, भक्त को आश्रय।

आश्रय किसका? उसका जो निराश्रय को आश्रय देता है। आश्रय दाता कौन? भगवान, भक्त का भगवान। तब तो भगवान स्वार्थी हैं? स्वार्थी नहीं वह 'स्व' रथ पर भक्त को आरूढ़ कर प्रसन्न होता है। स्वार्थी तो केवल अपने स्वार्थ को ही देखता है किन्तु भगवान, भक्त के परमार्थ को देखता है। स्वार्थी न भक्त होता है और न भगवान। परमार्थी ही परमपुरुष को पाता है, पौरुष पाता है जिसे देख दुनिया वाले चकित तथा सशंकित हो जाते हैं।

भक्ति की शक्ति अनोखी होती है। भक्त झुकता है एक की ओर और उसका झुकाव, झुका देता है दुनिया वालों को। यह भक्ति का प्रताप है, शारीरिक बल का नहीं, मानसिक का नहीं, बुद्धि की प्रखरता का नहीं, केवल भक्ति का।

प्रारम्भ में लोग भक्त को बुद्धू समझते हैं किन्तु समय पाकर यह बुद्धू ही बुद्धिमानों को बुद्धि देता है, पथ प्रदर्शन करता है, ऐसा देखा गया है। बुद्धिमानों की बुद्धि जहाँ पराजित हो जाती है, वहाँ इस बुद्धू की (भक्त की) सरलता उन्हें सहायता देती है। देती है और लेती कुछ नहीं। यदि कुछ लेती है तो उनका अहंकार जिसके कारण उनके सभी प्रयास विफल होते आये। अहंकार ने उनका पथ अवरुद्ध कर रखा था। अहंकार नत हुआ और सर्वत्र प्रकाश फैला।

अहंकार ही शैतान बन बैठता है। अहंकार ने कितने ही विद्वानों को बुद्धिमानों को पतन का रास्ता दिखलाया। भक्ति अहंकार नहीं चाहती, वह

चाहती है "शरणागति", जहाँ अहंकार का नामोनिशान नहीं। सरलता केवल विकलता को ही दूर नहीं करती, जीवन ही बदल देती है। जीवन बदला सांसारिक, आया पारमार्थिक। परमार्थिक जीवन धन-जन के लिये परेशान नहीं होता, वह परम धन चाहता है। अन्य धन-धान्य उसकी दृष्टि में (भक्त की दृष्टि में) नगण्य हो जाते हैं तभी न वह परमधन प्राप्त कर पाता है, अन्यथा उसकी भी वही दुर्गति होती जैसी की अन्य दुनियावालों की होती है।

निकृष्ट धन तन को जलाता, मन को विचलित करता, बुद्धि को भ्रमित किन्तु परम धन तो शान्ति प्रदायक है, प्रोत्साहनदाता है, विकलता विमोचक है। ये बातें अतिशयोक्ति नहीं तथ्य का कुछ वर्णन मात्र है।

स्वार्थी व्यक्ति की आँखें कुछ धुँधली होती हैं। संसार के अनेक गुणों को वह देख नहीं पाता। जिन्हें नहीं पाता, देख नहीं पाता वे वस्तुएँ, वे भाव उसके लिये द्वेष तथा ईर्ष्या के कारण बन जाते हैं। उसकी ईर्ष्या भक्त की निन्दा का कारण बन जाती है। ईर्ष्या मन की जलन है जो ईर्ष्यालु को जलाती रहती है। भक्ति, भक्त को परम शान्ति देती है जिसे संसार का धन, विद्या रूप देने में नितान्त असमर्थ हैं। भक्ति करे (व्यक्ति) और देखे कि भक्ति ने उसका उपकार किया है या अपकार। वस्तु या भाव की निन्दा या प्रशंसा निरर्थक है जब तक कि व्यक्ति उसे उचित रूप से करके न देखे।

भक्ति करे यह कहना भी शोभनीय इस दृष्टि से नहीं कि कहने वाला क्यों कहता है कि 'भक्ति' कर। करने वाले ने कुछ पाया है और कुछ पाना ही उससे कहलवाता है कि भक्ति कर किन्तु किसी के कथन को सुनकर यदि कोई भक्ति करता है तो कर्त्तव्य की संज्ञा में भक्ति आ जाती है। कर्त्तव्य यदि अन्तःप्रेरणा से आता है तो प्रशंसनीय अन्यथा कर्त्तव्य-कर्त्तव्य है प्रेम श्रद्धा का भाव नगण्य सा हो जाता है।

विवेचन जटिल नहीं, कर्त्तव्य और प्रेम दो भिन्न भाव है, प्रेम शिवत्व और जीवत्व को एकाकार करता है और कर्त्तव्य तो उचित अनुचित की ओर संकेत। कर्त्तव्य नीति संगत, प्रेमहृदय का उल्लास। नीति सहायक है जागतिक कार्यों की, उल्लास में नीति अनीति का स्थान कहाँ? नीति वाला सोचता है, समझता है, लाभ हानि का निर्णय करता है किन्तु प्रेमी का सोचना समझना कैसा वह तो अन्धा हो जाता है अपने इष्ट के प्रेम में। सोच, समझ कर कहीं प्यार किया जाता है? प्यार किया नहीं जाता, हो जाता है। विशेषता प्यार की यह है कि जब होता है तो जाता नहीं, जाते हैं प्राण, वे भी प्रिय मिलन के लिये। शरीर नाशवान शरीर को छोड़ चला प्राण। शरीर नश्वर, प्रेम अविनाशी, प्राण प्रिय के लिये, देह कार्य के लिये। ये कार्य भी प्रिय के लिये। यही तो भक्ति का मर्म है जहाँ कर्म प्रधान नहीं प्रेम प्रधान।

सोच समझ कर न प्यार किया जाता है न भक्ति। जहाँ सोचना, समझना है वहाँ स्वार्थ प्रधान है वहाँ भक्ति, प्रेम कहाँ? स्वार्थी यदि भक्ति करे, उसे भक्ति कहना भक्ति का अपमान है। उसकी प्रार्थना धन, जन अधिक से अधिक मोक्ष के लिये होगी किन्तु भक्ति, सच्चा भक्त तो भक्ति और प्रेम की अनुभूति का इच्छुक है। मुक्ति महान किन्तु भक्ति और प्रेम मुक्ति पथ को प्रशस्त करते हैं उसे जीवन का लक्ष्य मान अपना अस्तित्व लुप्त करना नहीं चाहते। मुक्ति मुक्त करती है सभी भावों से। प्रेमी यदि प्रेम से भी मुक्त हो जाये तो जीवन उसकी दृष्टि में विशेष महत्व नहीं रखता।

ऐसे भी वैरागी होंगे जिन्हें प्रेम भयभीत करता हो। उन्हें भय है कि कहीं प्रेम वासना का रूप धारण न कर ले। किन्तु यह भय वृथा है प्रेम और वासना दो भिन्न भाव हैं। प्रेम प्रभु का, वासना शरीर की। वैरागी को अपनी इन्द्रियों पर विश्वास नहीं, अतः वह प्रेम को भय की दृष्टि से देखता है। हृदय में छिपी वासना की अग्नि पर इन्द्रिय दमन की राख डालता है। वासना की

अग्नि को शान्त करने का यह पथ निरापद नहीं। पदों पर श्री प्रभु के पदों पर शीश रख, भक्त सरलता से जीवन-यापन करता है। महात्मा कबीर ने ठीक ही कहा - "कामी, क्रोधी, लालची, इनते भक्ति न होय।"

मानसिक दुर्बलताओं से छुटकारा पाना सरल नहीं। भक्ति काम, क्रोध और लालच का रूप ही बदल डालती है। कामना प्रभु मिलन की, क्रोध प्रभु प्रेम में बदला और लालच प्रभु लीला के अवलोकन का। मानसिक विकार यों ही नहीं बदलते। विकारी मनुष्यों का सम्पर्क व्यक्ति के विकारों को बल देता है। जब विकार सबल हो जाते हैं तो मनुष्य इतना निर्बल हो जाता है कि वह इन विकारों के इशारों पर नाचने लगता है। विकार उसे लाभ-हानि के विचार का समय भी नहीं देते। जब विकार कुछ शान्त होते हैं तो मनुष्य कभी-कभी सोचता है कि तूने क्रोध क्यों किया, लोभ ने ही तेरी यह दुर्गति की, काम ने तुझे बेचैन कर रखा है किन्तु ये विचार, विचार मात्र रह जाते हैं तथा विकारों का प्रहार पुनः अपना कार्य करने लगता है।

जीवन की अवधि अवसान पर आई, कुछ कर न सका, कुछ हो न सका। जीवन प्रकाश के लिये था, विकास के लिये था। आज निराश होकर लौट रहा है अनन्त पथ की ओर। यात्रा कैसी रही यह किसे सुनाये? सम्बन्धी तो इसी लोक के थे। लोक छूटा, सम्बन्धी छूटे। परलोक का साथी कौन? भक्ति। भक्ति को अपनाता तो अपना नाता प्रभु से होता जो लोक और परलोक का नियन्ता है।

जिन भाग्यशाली व्यक्तियों ने भक्ति सरिता में अवगाहन किया उन्हें आनन्द सागर में आश्रय मिला। आनन्द सागर की प्रेम-तरंगों ने उन्हें तरंगित किया। जीवन सफल, भक्ति प्राप्त, नहीं तो विकारों का गंदा जल जीवन को गंदा ही बनाता आ रहा है।

पवित्र भाव केवल जीवन को ही पवित्र नहीं बनाता, सांसारिक विचारों की गंदगी को दूर करने में सहायक होता है। पवित्रता देखता है जल में, मूर्ति में, मन्दिर-मस्जिद में, भाव की पवित्रता तो कण-कण को पवित्र कर देती है। राजा चिन्तित, फकीर निश्चिन्त। यह भाव ही है जो फकीर को निश्चिन्त बनाता है।

भक्ति भाव और भक्ति का भाव में अन्तर है। भाव से भक्ति होती है पुनः भक्ति करते-करते ऐसा भाव स्वतः आता है जहाँ भक्त और भगवान में अन्तर नहीं रहता।

भक्ति बड़ी या भाव ? यह प्रश्न मानवोचित है। मनुष्य छोटे और बड़े के रूप में संसार को देखता आ रहा है। यह विचारों का भेद-भाव ही मानसिक द्वन्द का कारण बन जाता है। मानसिक द्वन्द ने एक ही धर्मानुयायी के लिये द्वन्द खड़ा कर रखा है। साकार, निराकार का विवाद आज भी ज्यों-का-त्यों है। ऐसा ही विवाद अन्य धर्मों में देखा जाता है। (शीया, सुन्नी, केथोलिक, प्रोटेस्टेण्ट, महायान, हीनयान आदि)। धर्म विशेष द्वन्द का कारण नहीं, मानसिक विकार तथा विकार युक्त विचारों ने विश्व को विषवत् बना रखा है। भक्ति, सच्ची भक्ति ही इन भेद भावों को दूर करती है।

भक्ति कहीं सेवा में बदल जाती है कहीं भ्रातृत्व भाव में। मानव की सेवा, प्रभु की सेवा है। गुरु ने प्रभु की सेवा की, शिष्य ने मानव की (रामकृष्ण, विवेकानन्द)। भक्ति ने दोनों को महापुरुष बनाया।

चित्त वृत्ति का निरोध कठिन हो सकता है भक्ति तो प्रेम प्रसारिणी, ह्रदय हुलासिनी, विकलता विनाशिनी, द्वन्द संहारिणी, निर्द्वन्द कार्यकारिणी, उत्साह प्रदायिनी, प्रभु-प्रेम विलासिनी, संकट विकट विमोचनी, शान्ति सुख कर्त्री है।

'भक्ति ही क्यों' का उत्तर नहीं है, यह तो भक्ति की उपादेयता के विषय में कुछ कहा गया है। विश्व देव के लिये वेद, शास्त्र, पुराण, उपनिषद्, अनेक महाग्रंथों की रचना हुई, लेखकों की कलम थक गई, घिस गई, महिमा का अन्त न हुआ। भक्ति ने भक्तों की भी प्रशंसा ही नहीं करवाई, भगवान की तरह उनकी पूजा ही नहीं करवाई, उनके (भक्तों के) मंदिर भी बनवाये। यह प्रलोभन नहीं, भक्ति प्रलोभन के लिये नहीं की जाती, महान गुण है भक्ति, जो असार संसार को भी तीर्थ-स्थान बना देती है। भक्ति की सृष्टि में दु:ख, दैन्य नहीं। दु:ख, दैन्य की दुनिया का परित्याग भक्ति ही करवा देती है। बीज की हस्ती मिटी, मस्ती में उसने अनेक बीज पाये। जिसका सम्पर्क भगवान से हो, आनन्दकन्द से हो उसका जन्म-जन्मान्तर का दैहिक, मानसिक कष्ट सदा के लिये दूर हुआ। भक्ति की शक्ति भक्त जाने या भगवान। अन्य अन्न को भजते हैं, शरीर यों ही तजते हैं।

ॐ

मुक्ति महान

सृष्टि का क्रम ही ऐसा है कि प्राणी प्रत्येक मुहूर्त्त परिवर्तन के चक्र से ग्रसित है। उसका प्रत्येक क्षण किसी न किसी कार्य में लगा है। जहाँ कार्य है वहाँ कुछ विचार है, कुछ व्याकुलता है। व्याकुलता है कार्य सम्पन्नता के लिये, नवीन कार्य के लिये। नवीन कुछ प्राचीनता के लिये है और कुछ नवीनता। यह क्रम जीवन है, कार्य की अवधि है, और है भविष्य का निर्माण।

मनुष्य कुछ स्वतंत्र और कुछ परतंत्र। परतंत्र है संस्कारों से स्वतंत्र है नवीन विचारों के लिये। ये विचार, ये संस्कारउसका अपना संसार है, जहाँ प्रकाश है, अन्धकार भी है। प्रकाश प्रसन्नता प्रदाता, अन्धकार दु:ख-चिन्ता का विधाता। विधाता विधान बनाता है, मनुष्य विधानों से घबड़ाता है यद्यपि पालन करना पड़ता है उन विधानों को। विधाता एक ओर सृष्टिकर्त्ता कहलाता है दूसरी ओर मनुष्य के संचित कर्म। संचित कर्म व्यक्ति के विधाता हैं यह वह समझ नहीं पाता। संचित कर्म कुछ व्यक्तियों के लिये सुखदायक, कुछ के लिये दु:खदायक। बाहरी संसार अनुकूल तो ये संस्कार सुख का कारण बन जाते हैं यदि प्रतिकूल तो दु:ख तो होगा ही।

इस प्रतिकूलता तथा अनुकूलता का द्वन्द देख प्राचीन ऋषि मुनियों ने एक नवीन कल्पना की। वह कल्पना थी मुक्ति की कल्पना। मुक्ति की कल्पना दो प्रकार की थी, एक जीवन मुक्ति एक परोक्ष मुक्ति। जीवित अवस्था में मुक्ति प्राप्त करने के अनेक साधन बनाये। परोक्ष मुक्ति भी जीवन मुक्ति पर ही अवलम्बित है। जो परोक्ष था वह प्रत्यक्ष भी होता है तथा जो प्रत्यक्ष है वह परोक्ष का समर्थक बनता है। प्रत्येक कार्य का संचित भाव परोक्ष बन जाता है। प्रश्न को सकता है प्रत्यक्ष कैसे परोक्ष बनेगा ? प्रत्यक्ष कार्यों की अज्ञात ध्वनि परोक्ष की महाध्वनि में सम्मिलित हो जाती है।

जो सम्मुख है उसे ही व्यक्ति प्रत्यक्ष मानता है और जो चर्मचक्षुओं के सम्मुख नहीं वही परोक्ष। किन्तु जो सम्मुख है नहीं वह नहीं है यह कहना उचित नहीं। स्थूल प्रकृति में आज यदि शिशिर का कम्पन है तो ग्रीष्म का स्वेद भी देखा जाता है। उत्तर हो सकता है कि यह तो ऋतु परिवर्त्तन है, इसका परोक्ष से क्या सम्पर्क हो सकता है? ठीक है, इसकी जानकारी भी मनुष्य ने परिवर्त्तन देख कर प्राप्त की। ऋषि-मुनियों ने भी साधना के द्वारा परोक्ष, मुक्ति की अनुभूति प्राप्त की।

आधुनिक काल के व्यक्ति मुक्ति पर विश्वास करें या न करें, उसकी आवश्यकता समझें या न समझें, उसकी महत्ता में न्यूनता नहीं आती। कार्य सम्पन्नता के पश्चात् सन्तोष आता है, किन्तु कार्यों का अन्त नहीं। मुक्ति की विशेषता या मुक्तावस्था की महानता यह है कि कार्य व्यक्ति को व्याकुल नहीं कर सकते। कार्य भी होते रहते हैं अवस्था (मुक्तावस्था) भी बनी रहती है।

कार्यों की बाहुल्यता ने मनुष्य के तन मन को अनेक रोगों का घर बना रखा है। यों तो प्राचीन उक्ति है "शरीरं व्याधि मंदिरम्" किन्तु आज व्याधि से अधिक "आधि" है अर्थात् शरीर के रोगों से अधिक मानसिक रोग हैं। ये रोग आधुनिक काल की देन हैं। यह विज्ञान का चमत्कार है कि मनुष्य प्रगाढ़ निद्रा के लिये तरसता रहता है। नागरिक जीवन तो आज अभिशाप सा बना हुआ है। विचार धारा का प्रवाह मनुष्य को अशान्त बनाये रखता है। प्राचीन ग्रन्थ, ऋषि-मुनि, मुक्ति-भक्ति उपहास्पद बने हुए हैं। जीवन आज यन्त्रवत् हो रहा है। पुण्यभूमि की तपश्चर्या को आधुनिककाल के महापंडित 'पलायनवाद' कह रहे हैं। शोक और दुःख मानसिक रोग और व्याधि का बोलबाला है। ऐसी अवस्था में 'मुक्ति महान' की वार्त्ता अरण्यक्रन्दन मात्र है।

काल की गति कभी तीव्र, कभी मन्द। आज के विचार कल विशेष महत्व न रखें, किन्तु कुछ विचार, विचार मात्र नहीं रहते, तथ्यपूर्ण तथा

यथार्थ रहते हैं, उनमें परिवर्त्तन नहीं आता। सूर्य पूर्व दिशा में उदय तथा पश्चिम दिशा में आज भी अस्त हो रहा है। विज्ञान वेत्ताओं का अनुमान है कि ऐसा भी समय आयेगा, जब सूर्य के प्रकाश में ऐसी प्रखरता नहीं रहेगी, जैसी की आज है। अनुमान है, सत्य भी हो सकता है, किन्तु मुक्ति तो अनुमान नहीं, सत्य की तरह सत्य है।

सत्य ब्रह्म है, सत्य आत्मा है, इसमें परिवर्त्तन कैसा? सत्य को न माने, ब्रह्म को काल्पनिक समझे, आत्मा का रूप नहीं, अतः वह भी विश्वसनीय नहीं, ऐसा व्यक्ति कह सकता है, समझ सकता है। कार्य करते हुए कार्य भार से मनुष्य आज भी मुक्त होने की आवश्यकता समझता है।

अधिकांश प्राणी भरण-पोषण को ही प्रधान मानते हैं। मानने वाले मानें, किन्तु सच्ची शान्ति तो मुक्तावस्था में है। प्रधानता किसको दी जाये, शरीर को या मन को? शरीर प्रधान है कार्य के लिये, मन प्रधान है कार्य रचना के लिये। शरीर और मन का सहयोग परमावश्यक है कार्य सम्पन्नता के लिये। बुद्धि का निर्णय यदि मन का समर्थन न पा सका तो कार्य होता रहेगा, मन को शान्ति न मिलेगी।

धार्मिक कहलाने वाले व्यक्ति प्रायः कहा करते हैं, मन बड़ा दुष्ट तथा नटखट है, भगवान की भक्ति में नहीं रमण करता। दुष्ट तथा नटखट मन नहीं, उनके विचार हैं, उनका वातावरण है, उनके साथी हैं, मनुष्य को प्रोत्साहन मिलता है उनके विचारों से, उनके साथियों से। मनुष्य बदलता है अपने साथियों के कारण। प्राप्त वस्तु या धन की वृद्धि में सचेष्ट रहने वाला व्यक्ति मुक्ति की महानता को क्यों स्वीकार करेगा? भ्रांत धारणा के कारण वह समझ बैठता है कि यदि मैं मुक्त हो गया तो भरण-पोषण कैसे होगा? मुक्ति कार्यों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाती, वह उनके कार्यों को अधिक सुगम बनाती है।

कार्य करते हुए निर्लिप्त रहना, मुक्ति का एक लक्षण है। 'निर्लिप्त भाव सरल नहीं' यह कहना उचित है किन्तु व्यक्ति की भावना दुष्कर को भी सरल बना देती है। जिस ओर व्यक्ति का ध्यान लगा समय पाकर उसे सफलता प्राप्त हुई। यह लगन है जिसने असम्भव को भी समय-समय पर सम्भव बनाया है। अनेक भौतिक कार्य इसी लगन के द्वारा होते आये और होते रहेंगे।

प्राणी का अन्तिम रूप मनुष्य है, ऐसा समझा जाता है। मनुष्य ही मुक्त हो सकता है यह मनुष्य के लिये स्वर्ण सुयोग है। इस सुयोग से यदि मनुष्य लाभ न उठा पाया तो मनुष्य का आगमन निरर्थक सिद्ध होगा। अन्य प्राणी प्रकृति आधीन। मनुष्य कुछ स्वाधीन, कुछ पराधीन। यह पराधीनता उसके पूर्व कृत कार्यों का प्रसाद है जिसे वह विधाता कहता आया है।

कार्यों की श्रृंखला ही ऐसी है कि मनुष्य कार्यों से मुक्त नहीं हो पाता। पाता है जीवन अनेक बार किन्तु एक को न मान अनेक के चक्र में सदा दलित होता रहता है। अनेक की अभ्यर्थना उसे अनेक जन्म ग्रहण करवाती है। वह हक्का-बक्का-सा रहता है। क्या करे क्या न करे इसे विचारता है। कभी निर्णय कर पाता है कभी अमीमांसित-सा रहता है। कैसी जीवन की बिडम्बना है चला जा रहा है, चला आ रहा है किन्तु क्यों? इस क्योंकि ओर ध्यान दे तो उसका आना-जान सार्थक है अन्यथा यों ही आया यों ही गया।

जीवन बनाने के लिये आने वाला व्यक्ति यदि घर बनाने लगा, दुकान बनाने लगा तो उसका जीवन बनाना उपेक्षित ही रहा। आया था जीवन बनाने के लिये, ऐसा जीवन बनाने के लिये कि उसे फिर न जीवन बनाना पड़े, मुक्त विचरण करता हुआ, जीवन से मुक्त होता चला जाता। ऐसा जाता कि अन्य व्यक्तियों के लिये उसके पद चिन्ह, मुक्ति-मार्ग का पथ-प्रदर्शक

बनते, किन्तु वाह रे कार्यों के चक्र, तूने जीव को बेहाल ही कर डाला। मुक्ति उसे अकर्मण्यता-सी प्रतीत होने लगी और यह संसार वृहत् कारागार जहाँ उसकी दृष्टि में सभी बन्दी हैं। कोई लोभ के बन्धन में बँधा है तो कोई मोह के, कोई काम का दास बना है तो कोई क्रोध का।

ईर्ष्या और मद का तो कहना ही क्या? बिना मद सेवन किये ही मदान्ध हो रहा है। पार्थिव मद (मदिरा) का असर कुछ समय के लिये होता है, किन्तु यह मद उसके लिये चिरबन्धु है जो चिरकाल से कालके जंजाल से मुक्त नहीं होने देता।

मुक्त तो तब न हो जब वह मद के नशे से मुक्त हो। मद बन्धु बना, बन्धन बना रहा इसके लिये। बन्धन न रहा, मद बन्धु न रहा। मनुष्य का मद समझ बैठता है कि तपस्या के मद में आकर ऋषि-मुनियों ने कुछ बातें कही जो इस लोक की कम थी, परलोक की अधिक। मनुष्य को तो इस लोक में रहना है भोग-विलास के लिये, वह परलोक की कल्पित बातों को मान, सुख-चैन की जिन्दगी को क्यों खाक में मिलाये। उन पुस्तकों को पढ़ना तो उसकी दृष्टि में समय बरबाद ही न करना है।

आधार को न पहचानने वाला व्यक्ति निराधार हो जाता है और निराधार व्यक्ति व्याकुल ही रहता है और रहेगा। जिन व्यक्तियों ने आधार के गुण विशेष व्यक्त किये वे पागल नहीं थे और यदि मान लिया जाये कि वे पागल ही थे तो यह निर्विवाद बात है वे धन, जन मद के लिये न थे।

जीवन मिला है मुक्ति के लिये, भक्ति के लिये, प्रणय प्रसार के लिये न कि मद, मोह के लिये, काम के लिये।

भार ग्रसित व्यक्ति मुक्त मानव के आनन्द को क्या जाने? भोग में जलन न होती तो भोग तृप्तिदायक होता, मद में यदि बुद्धि हीनता न होती तो मद स्वाभिमान का परिचायक होता, क्रोध में यदि ध्वंशात्मक भाव न होता तो क्रोध शुभ कार्य उत्तेजक होता, जीव में जीवत्व भाव बद्धमूल न होता तो जीव शिव होता, मुक्त होता किन्तु हुआ, कुछ ऐसा हुआ कि क्या का क्या हुआ कि कुछ हो न सका, कुछ कर न सका। कुछ किया भी वह भी बन्धन का कारण बना, मुक्ति का कारण नहीं। यह मद पतन का ही कारण बना, तन का ही कारण बना, रण का ही कारण बना, ब्रण का ही कारण बना, प्रण का कारण न बना कि मुक्त होना है, भार मुक्त होना है, किसी ऐसे का होना है जो महान है, एक है, अनेकों में एक है, वही जीवन का सुन्दर प्रभात है, मिलन की संध्या है, ज्योति की रात्रि है, भक्तों का प्राण है, जिसकी अनुभूति के बिना यह संसार असार है, प्राणी परेशान है। ये उद्‌गार हैं उसके जिसने मुक्ति महान है ऐसा समझा है।

उदार वृत्ति वह वृत्ति है जिसके लिये सर्वत्र साम्यवाद है। आज उदार, कल उद्धार। वृत्तियों का श्रृंगार मनुष्य को उदार बनाता है और संहार तो वृत्तियों का हो ही नहीं सकता, सुधार होता है यदि सुधा रस पान करे संत वाणी का। कर्ण, कर्ण की तरह होते तो व्यक्ति दान करता, प्रदान करता अपनी निर्मल वाणी का। ह्रदय की कोमल भावनाएँ लोभ और क्रोध को दान और शरणागति में परिवर्तित करती हैं।

धन, जन के लोभ ने मनुष्य को ऐसा संकुचित ह्रदय वाला बनाया कि वह प्राणी जो मनुष्य बन कर आया वह मनुष्यता ही भूल बैठा। अब मुक्त होना तो उसके लिये अति असम्भव हो गया। प्राण यदि मोह के हाथ बिक गये तो शान्ति कहाँ? मुक्ति तो मुफ्ती नहीं, मुक्ति के लिये चाहिये निर्लिप्त भाव। वह भाव जो संसार सागर में काष्टवत् हो, बहता हो यह मुक्ति का लक्षण है।

काष्ठ जल में डूबता नहीं, मुक्त मनुष्य भी विषय-विकारों में डूबता नहीं, कष्ट अनुभव करता नहीं। जल के ऊपर तैरते रहना, बहते रहना, रहना जल में, किन्तु जल से भय न करना यह भी मुक्तावस्था का लक्षण है।

यह मुक्ति है, जो कि शक्ति देती है मनुष्य को कि वह सागर की उत्ताल तरंगों को देख भयभीत नहीं होता। कष्ट और विपत्ति की ऊँची लहरें साधारण व्यक्ति के विवेक का हरण करती हैं, किन्तु मुक्त हृदय को स्पर्श भी नहीं कर पाती, शरीर को स्पर्श करती हैं, हृदय को नहीं, क्योंकि वह मुक्त है और युक्त है महाशक्ति से जहाँ कष्ट की लहरें विफल मनोरथ हो जाती हैं।

मुक्ति महान क्यों है? इस क्यों का संक्षिप्त वर्णन उपर्युक्ता पंक्तियों में किया गया, यह तो वर्णन मात्र है। अवस्था तो अनुभूति का विषय है, जहाँ सभी विषय-विकार शान्त हो जाते हैं। विकारों की शान्ति के लिये प्राचीन महापुरुषों ने अनेक साधन अपनाये तथा बताये। स्वयं करने वाला व्यक्ति ही अपनी कुछ बातें बतला सकता है।

कल्पना का क्षेत्र विराट है, यदि वे कल्पनायें साकार हो जायें तो भूमि पर आना बेकार नहीं जाता। जीवन तो मिला, जीवित अवस्था में मुक्त न हो पाया तो कष्ट ही कष्ट रहा। यह कष्ट केवल आज का ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर तक अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखता है। कष्ट से मुक्त होने का अवसर था मनुष्य जीवन में, जिसे मनुष्य ने यों ही नहीं बिताया, उसमें और भी वृद्धि ही की, कम न कर सका। कम करता कैसे उसने गम में दिन और चिंता में रात बिताई। बीता ही जीवन, मनुष्य कुछ पा न सका, कुछ कर न सका। किया वह कार्य जिसने उसका कष्ट ही बढ़ाया, कमी न की कष्ट में। यह विधाता का दोष नहीं, विधि-विधान का है, पूर्व संस्कारों का है।

बदलेंगे विचार, बदलेंगे संस्कार, बदलेगी सृष्टि, बदलेगी दृष्टि। यदि ऐसे व्यक्ति का सहयोग प्राप्त हो, जिसका साधना में सम्पूर्ण जीवन बीता है या जिसका जीवन कली के रूप में था, प्रस्फुटित पुष्प के रूप में विकसित होकर सौरभ लुटाता हुआ विलीन हो गया, तल्लीन हो गया, उसी में जिसने उसे जीवन प्रदान किया था। वह कौन आया, जिसने पलभर में राजा जन को विदेह बना ब्रह्म साक्षात्कार कराया। वह कौन आया, जिसने रत्नाकर डाकू को महर्षि बाल्मिकी बनाया। वह कौन आया, जिसने महाहिंसक 'अंगुलीमाल' को अहिंसा का भक्त बनाया, प्रचार करवाया। वे सन्त थे, सन्तों की सन्तान थे।

मुक्त ही मुक्ति का पथ दिखलाते आये तथा दिखलाते रहेंगे। क्या मुक्ति इतनी महान है कि संसार का महामूल्यवान धन भी उसके भक्त को आकृष्ट नहीं कर सकता? त्रिलोक की सम्पदा भी उसे आकृष्ट नहीं कर सकती, वही आकृष्ट करता है धनाभिलाषियों को, क्योंकि उसी के पास श्रेष्ठ अविनाशी धन है, जिसे पाकर जीवन धन्य होता है।

महान ही मुक्ति का पथ दिखलाते हैं। व्याकुल प्राणी का सहायक कौन? क्या वह व्यक्ति होगा जो स्वयं व्याकुल है? नहीं। जो व्याकुल था, अब है नहीं, वही आकुल-व्याकुल की स्थिति को जानता है। ताप, संताप, उत्तेजना, कामना ने मनुष्य को व्याकुल बना रखा है। निर्जीव तवे की क्या हालत होती है, जो अनवरत अग्नि से तप्त होता रहता है, एक दिन ऐसा आता है कि वह (तवा) निकम्मा हो जाता है। मनुष्य तो सजीव है, प्राणधारी है, वह कैसे सहन कर सकेगा प्राणों की बेचैनी को। किन्तु इस बेचैनी की भी दवा है। दवा है मुक्त अवस्था। यद्यपि इस दवा की प्राप्ति सुलभ नहीं, किन्तु है नहीं ऐसा कहना उचित नहीं। रोग है तो दवा भी है। आज जिन रोगों को दुनिया वाले असाध्य कहते हैं उनकी दवा भविष्य के गर्भ में है तथा भूत के

गर्भ में थी। प्रश्न हो सकता है कि यदि भूत के गर्भ में थी तो यह रोग क्यों न दूर हुआ? उत्तर है रोग भी था दवा भी थी किन्तु रोग इस रूप में न था और दवा थी किन्तु रूपान्तरित होगी, तभी होगी। उत्तर सरल नहीं प्रतीत होगा किन्तु यदि विवेक से कार्य लिया जाये तो उत्तर उचित जान पड़ेगा।

शून्य को मुक्ति मान लेना मुक्ति की महत्ता का उपहास करना है। जहाँ मनुष्य शून्य की कल्पना करता आया वहाँ विवेक का सूक्ष्म आवरण है और है ब्रह्म की स्थिति। ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है तो शून्य फिर शून्य कैसे रह सकता है? शून्य में ब्रह्म है और ब्रह्म में शून्य है। पुनः प्रश्न हो सकता है यदि ब्रह्म में शून्य है तो यह गतिविधि किस प्रकार चल रही है? गति-विधि शून्य में चले या ब्रह्म में इससे न ब्रह्म प्रभावित होता है और न शून्य।

मनुष्य यदि साधारण बुद्धि से निर्णय पर पहुँचना चाहे तो भ्रमात्मक होगा। कलम जिसके हाथ में है, तर्क जिसके दिमाग में है, वह चाहे जैसा लिखे, मानने वाले मिल ही जाते हैं, मिल ही जायेंगे। जब चर्वाक के अनुयायी भी बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं तब अन्य महापुरुषों के मतावलम्बीक्यों न मिलें? शून्य और ब्रह्म को कल्पना कहा जा सकता है किन्तु इस कल्पना को साकार करने वाले भी हुए हैं और होते ही रहेंगे। यह कार्य दार्शनिकों का नहीं, भक्तों का है, ब्रह्मज्ञानियों का है।

तर्क करने वाले किस युग में न थे, किन्तु तर्क जहाँ बुद्धि को तीक्ष्ण करती है, वहाँ भक्ति तथा साधना आनन्द पथ को सरल बनाती है। शून्य एक स्थिति विशेष है जिसे प्रशान्त महासागर कहा जा सकता है किन्तु प्रशान्त महासागर में भी तरंगे उठती हैं, हाँ उत्ताल तरंगे नहीं उठती।

वायु और विचार के संसार में भ्रमण करने वाला व्यक्ति यदि वायु और विचारों से ही व्याकुल रहे तो वह शान्त कहाँ होगा?उसे तो यहीं शान्ति

चाहिये, मुक्तावस्था चाहिये। श्वास स्वाभाविक गति से चलता रहे तो मनुष्य को श्वास का कष्ट न होगा, विचार यदि विचारों के द्वारा उत्तेजना को शान्त करता रहे तो यह जीवन मनुष्य को कष्टदायक प्रतीत न हो। प्रमाण चाहने वाले युग में कल्पना की मुक्ति के लिये स्थान कहाँ? प्रत्यक्ष मुक्त अवस्था है, कार्य भार से मुक्ति। कार्य होते रहें उनका भार हृदय पर न हो, मन पर न हो तो मनुष्य शान्त तथा प्रसन्न रहेगा।

वृत्तियों का निरोध कर शून्यावस्था को प्राप्त करना आज की मांग नहीं। यह कार्य साधु-संन्यासियों के लिये है कि वे ब्रह्म, शून्य के ग्रन्थों का पठन-पाठन करें तथा वाद-विवाद में समय व्यतीत करें। सांसारिक प्राणी या दूसरे शब्दों में सद्गृहस्थ यदि कार्य भार से मुक्त हो सका तो उसका जीवन सफल हो। आवश्यकता साधुओं की थी और आज भी है नामधारी साधुओं की नहीं, जो वेद-शास्त्र, वेदान्त के ग्रंथों की चर्चा में ही समय बिताते हैं, साधना में नहीं।

साधना जीवन को सरल बनाती है, बातें नहीं। उच्च आदर्श की बातें केवल बातें ही हैं, साधना नहीं। बातें तो प्रायः अहंकार का ही कारण बनती हैं।

मुक्ति युक्ति में है, उक्ति में नहीं। युक्त हुआ, संयुक्त हुआ महाशक्ति से तो संसार में रहता हुआ मनुष्य महाशक्ति में लीन हो जाता है। पार्थिव शरीर पृथ्वी पर, स्वयं, स्वयं में लीन, तल्लीन यह महामुक्ति है। यह सहज भी है और योग के द्वारा भी प्राप्त होती है। भक्ति तो पुल है, जो विपुल कार्यों के होते हुए भी भक्त के इहलोक, परलोक का भ्रम निवारण करती है। भक्ति को साधारण जन समझ भी नहीं पाते। नाम स्मरण ही भक्ति नहीं। नाम तो एक चाभी है, कुञ्जी है जो अन्य वस्तुओं की चाह भी रहने नहीं देता तथा प्रेम के

कुञ्ज - निकुञ्ज की व्यवस्था करता है तथा ऐसी अवस्था बना देता है कि नामी ही सर्वत्र दिखलाई पड़ता है।

भक्ति के अन्य पक्ष भी हैं, जो पक्ष-विपक्ष के दल-दल में न फँस, कमल दल की तरह कोमल मन को प्रभु के चरणारविन्द में ही रख मानव तन धन्य समझते हैं। यदि यह कहा जाये कि 'मुक्ति महान' से भक्ति का क्या सम्बन्ध ? तब तो कहना होगा कि वह व्यक्ति मुक्ति पथ का अनुगामी नहीं।

अनुरागी, विरागी दोनों ही मुक्ति के प्रार्थी हैं। अनुरागी अनुराग के द्वारा, वैरागी विराग के द्वारा मुक्ति-पथ पर अग्रसर होते जाते हैं और अन्तिम अवस्था तो मुक्ति के भावों से संयुक्त होना है। मुक्ति महान क्यों ? मुक्ति महान से भी मुक्ति दिलाती है ऐसा भी एक पक्ष है। ऐसे भी भक्त हैं जो संसार में तो मुक्त विचरण करते हैं किन्तु महान से मुक्त होना नहीं चाहते। युक्त होकर ही जीवन का लाभ उठाते हैं। भाव स्रोत है जिधर भी बहे आनन्द सागर में मिल जाना है। गन्दा नाला भी यदि नदी में मिल जाये तो उसकी गन्दगी दूर हो जाती है, शुद्ध स्रोत का तो कहना ही क्या ? कहना क्या, किसी का होना है, मुक्त होना है क्योंकि मुक्ति ही महान है।

ॐ

कर्म - ज्ञान का अवसान

कर्म का अवसान दुष्कर है, विश्व की रचना कर्म की प्रधानता के लिये है। प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ कर्म होते ही रहते हैं, अवसान कैसे हो? विचारणीय वार्ता है। रत रहने वाला व्यक्ति विरत कैसे हो? कर्म न करे तो विश्व में प्राणी का आगमन, निरर्थक न होगा। प्राणों का कर्म, देह का कर्म, मन का कर्म, धर्म का कर्म, आदि अनेक कर्म क्या प्रत्येक क्षण होते नहीं रहते? अवसान, वह भी कर्म का अनर्गल शीर्षक प्रतीत होता है।

विचारों का क्षेत्र विराट भी और सीमित भी है। ज्ञान संकेतक है, ज्ञान का अवसान भी अगर हो जाये तो संसार की क्या स्थिति होगी? ज्ञान तो अविनाशी है। ज्ञान अविनाशी है, यदि ज्ञान अविनाशी के परिचय में सहायक हो। किन्तु जब ज्ञान का अवसान ही हो जायेगा, तब अविनाशी का ज्ञान अविनाशी के रूप में ही स्थित रहेगा। कर्म और ज्ञान का अवसान यदि सम्भव हो तो सृष्टि के कार्य कैसे सम्पादित होंगे? प्रश्नों की बौछार हो सकती है और होती रहे, किन्तु उत्तर भी प्रस्तुत करना होगा। अन्यथा केवल प्रश्न सन्तोषजनक नहीं। उत्तर है कर्मों का अन्त कर्मों से नहीं होता, कर्मों से विरत होने पर होता है। यदि प्रश्न यह है कि विरत होना भी कर्म है तो उत्तर होगा कि विरत होना कर्म कहलायेगा, किन्तु वह ऐसा कर्म नहीं जो अन्य कर्मों का जनक हो। वे कर्म जो मोहक हैं, कर्त्तव्य-विमुखता का कारण हैं, ऐसे कर्मों से वंचित होना ही उचित है।

कर्म कुछ सार्थक होते हैं, कुछ निरर्थक। कर्म तो अज्ञानता के परिचायक हैं। मनुष्य कुछ विचार कर ही कर्म करते हैं, फिर निरर्थक क्यों कहलायेंगे? बालू से तेल निकालने का प्रयास मनुष्य कब करता है? निरर्थक की परिभाषा ही निरर्थक हो जायेगी, यदि यह नहीं कहा जाये कि क्यों कर्म

निरर्थक कहलाया। कर्म यदि लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक न हो सका तो वह कर्म निरर्थक ही कहलायेगा। प्रश्न हो सकता है कि लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति का भिन्न-भिन्न होता है, फिर आलोचना क्यों, कटु-उक्ति क्यों? भिन्नता को अमान्य नहीं कहा जाता, किन्तु वे कर्म जो प्राणी अन्य योनियों में करता आया, मानव तन पाकर भी यदि उनकी (कर्मों की) पुनरावृत्ति करे तो मानव तन कोई अर्थ नहीं रखता।

आहार, निद्रा, भय, मैथुन की विचार माला तो सब योनियों में प्रधान थी, अब तो उस माला को मालिक को अर्पण कर यशगान गाना है। स्वभाव से विवश प्राणी यदि मानव तन पाकर भी उन्हीं बातों का उपासक बना रहा, जो अन्य योनियों में प्रधान थी तो मानव तन की सार्थकता कहाँ रही? उपासना उस देव की, जिसने दिया है मानव तन अन्यथा आवागमन भी बना रहेगा तथा जीवन उन्नत नहीं, भ्रमित अवस्था में ही बीतेगा।

भ्रमित जीवन में शान्ति दुर्लभ। "दुर्लभ मानव जन्म है, बहुरि न बारम्बार" यह महात्मा कबीर का कथन है। मानव जीवन का मूल्यांकन करना सरल कार्य नहीं, फिर भी मनुष्य व्यर्थ ही समय व्यतीत करता रहा, तो दोष किसका? पश्चात्ताप भी एक ताप है, जलन है जिससे मनुष्य अवसर खो कर समझता है। अवसर का लाभ सभी व्यक्ति उठा नहीं पाते। कर्म और ज्ञान का अवसान समझना सबका कार्य नहीं। प्रथम तो मनुष्य कर्मों के झंझावात से ही परेशान रहता है, यदि कुछ समय मिला भी तो आलस्य, शिथिलता को अर्पण किया, ऐसा व्यक्ति कर्म के अवसान का मर्म क्यों समझने लगा?

अवसान का अर्थ अन्त है, यह शब्द कोष बतलाता है। अनन्त के राज्य में अन्त कैसा? महात्मा कहते हैं "हरि अनंत, हरि कथा अनन्ता" यहाँ हरि की कथा का अवसान नहीं, कर्म के अवसान की वार्त्ता ही मुख्य है। यदि अन्त अनन्त में हो तो अवसान स्वतः ही होता है।

कर्म की अभिलाषा, कर्म की अपूर्णता की ओर संकेत करती है। अपूर्ण कर्मनव-जीवन का कारण बनता है। भिन्न-भिन्न धर्मों में मृत्यु के पश्चात् की कल्पना भिन्न-भिन्न है। स्वर्ग-नरक शुभ-अशुभ कर्मों का परिणाम होता है, यह अनेक धर्मों की मान्यता है, लेकिन कर्म के अवसान की मान्यतावाले व्यक्ति के लिये स्वर्ग-नरक का प्रलोभन तथा भय विशेष अर्थ नहीं रखता। इसका अर्थ यह नहीं कि कर्म का अवसान मानने वाला व्यक्ति धर्म-कर्म को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। इनके मर्म को समझने वाला व्यक्ति निरपेक्ष भाव से कर्म की गति, कर्मों के फल की स्थिति को समझने की चेष्टा करता है। ऐसे व्यक्ति का कर्म के प्रति न अनुराग रहता है न विराग। कर्म होते रहते हैं, जीवन-यापन होता रहता है। वह द्रष्टा भी नहीं, वह स्रष्टा भी नहीं। वह जानता है कि ये कर्म बादलों की तरह आयेंगे, कुछ जल बरसायेंगे, कुछ यों ही विलीन हो जायेंगे।

अनन्त का भंडार भी अनन्त है। इस भंडार में न जाने कितने ही कर्म विलीन होते हैं तथा कितने ही नवीन कलेवर धारण करके विचारों के नभ में अनेक रंग दिखलाते हुए व्यक्तियों को रिझायेंगे, तड़पायेंगे। यह क्रम चला आ रहा है और कब तक चलता रहेगा इसका अनुमान लगाना भी अल्पज्ञता है।

मनुष्य ने प्रलय की कल्पना की किन्तु यह तो वह नहीं जानता कि इस सृष्टि का कितनी बार निर्माण हुआ तथा कितनी बार निर्वाण। व्यक्ति कह सकता है कि इसकी आवश्यकता ही क्या है? ठीक, यदि आवश्यकता नहीं तो कर्मों का क्रम, चक्र की तरह चलता रहे, उनके भले-बुरे परिणाम को देख कर हर्ष-शोक मनाने की आवश्यकता भी क्यों?

यह सृष्टि है जो परिवर्त्तनशील है और ये कर्म हैं जो युग-धर्म के अनुसार होते आये हैं और होते रहेंगे। भोला प्राणी फिर भी शान्त नहीं होता।

खिलौनों की दुनिया बालक के लिये मनमोहक होती है, इनमें कुछ टूटते हैं कुछ नये आते हैं किन्तु बालक कब तक इन कर्मों के खिलौनों से खेलता रहेगा? उसे ज्ञान प्राप्त करना है, खिलौनों का मोह छोड़ना है। खिलौनों का मोह कम हो जाता है जब वह ज्ञान का अभ्यास प्रारम्भ करता है। ज्ञान उसे ज्ञान देता है अब तू खिलौनों से न खेल नहीं तो तू मेरा लाभ न उठा सकेगा। बालक दुविधा में पड़ जाता है कहता है ये (कर्म रूपी खिलौने) मुझे प्रिय हैं, इनका परित्याग मेरे लिये कठिन है। ज्ञान कहता है कि तू मुझसे अनुराग कर, मेरा अनुराग ही इनके परित्याग में सहायक होगा। ज्ञान का अनुराग बढ़ता गया और खिलौनों का मोह का परित्याग होता गया। ऐसा भी समय आया जब बालक यह भी भूल बैठा कि वह भी कभी खिलौनों से खेला करता था। यही अवस्था ज्ञानी की है, जिसने कर्म-जंजाल से ज्ञान के द्वारा विरति पाई। कर्मों के प्रति अनुराग न रहा, अब वह चिन्तन, मनन का अभ्यासी हो गया। अवस्था विशेष है, ज्ञानी भी शिशु था, बालक था, युवा था, प्रौढ़ था, अब वृद्ध अवस्था आई ज्ञान की हरियाली दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गयी। शरीर में परिवर्त्तन आये, ज्ञान दृढ़ होता गया परिवर्त्तन कैसा? शरीर में ये अवस्थाएं कहाँ छिपी थीं। बीज में भी तो वृक्ष छिपा हुआ था, आश्चर्य क्यों? बीज में प्राण-शक्ति थी अतः वर्द्धित हुआ, ज्ञान भी प्राणी के प्राणों में रहता हुआ संवर्द्धन चाहता था, सहायक मिले, फला-फुला, किन्तु कर्म का अवसान कहाँ हुआ? कर्म ज्ञान के अनुराग में रूपान्तरित हुआ। कर्म होते रहे, न व्याकुलता के कारण बने और न हर्ष के। यह पुस्तकों का ज्ञान नहीं, प्रकृति का ज्ञान है जिसकी पाठशाला ही निराली है। पाठ पढ़ा नहीं जाता, पाठ स्वयं उपदेश देता है, चाहिये ज्ञान-दृष्टि, प्रकृति का गम्भीर अवलोकन।

ज्ञान भी यदि अभिमान का कारण बने तो ऐसे ज्ञान की भी आवश्यकता है। ज्ञान व्यवहार का, ज्ञान परमार्थ का। व्यवहार का ज्ञान इहलोक की यात्रा सुगम बनाता है किन्तु परलोक की उपेक्षा भी अवांछनीय

है। परलोक का कल्पित भय तथा उत्साह इहलोक के सामाजिक नियम उपनियम पर नियन्त्रण रखता है।

मनुष्य के हृदय में शुद्ध तथा अशुद्ध रक्तवाहिनी नली की गति है। देव तथा दानव दोनों ही मन तथा हृदय पर समान अधिकार रखते हैं। दिन प्रकाशमान, रात्रि अन्धकार तथा प्रकाश का सम्मिश्रण। दोनों ही अबाध गति से अपने कार्य करते आ रहे हैं। ज्ञान और कर्म का चक्र भी उसी प्रकार चला आ रहा है।

देव भी कार्य करते हैं, दानव भी। निर्मल भाव तथा मैले विचार देव दानव का कार्य करते हैं। यह भी कहा जाता है कि मनुष्य में पशुत्व भी है, देवत्व भी। पशुत्व काम की प्रेरणा देता है, देवत्व दया की, क्षमा की, ज्ञान की।

पशुओं से मनुष्य कार्य करवाता है, पशुत्व का आधिक्य मनुष्य को कर्मों में नियुक्त करवाता है। कर्म, कर्म, कर्म यही उसकी पुकार रहती है तथा कर्म करने के उपरान्त भी सन्तुष्ट नहीं रहता, अन्तिम श्वास तक कर्म का मोह परित्याग कर नहीं पाता। देवत्व ज्ञान तथा दया की रट लगाये रहता है शान्ति वहाँ भी नहीं। दयालु कोई और है जो इन विपरीत भाव (पशुत्व और देवत्व) युक्त मनुष्य को संकेत करता रहता है कि देह अवसान के पूर्व ही कर्म ज्ञान के अवसान के मर्म को समझ ले अन्यथा इन दोनों का चक्र (कर्म, ज्ञान का) चलता ही रहेगा।

कर्म अवांछनीय नहीं और न ज्ञान, किन्तु अवसान का मर्म मनुष्य न समझा तो मानव के तन-मन शिवत्व भाव में लीन कैसे होंगे? यों तो आवश्यकता है कर्म की, ज्ञान की, इहलोक तथा परलोक के लिये, किन्तु

कर्म वही उपयुक्त जो वृत्तियों को उपसम कर सके, ज्ञान वही जो निर्वाण पथ में अग्रसर करता हुआ स्वयं (ज्ञान) अवसान को प्राप्त हो।

अवचेतन से अतिचेतन तक यात्रा करने वाला कौन, तन या मन ?तन स्थूल है तथा मन के अनेक संकल्प, विकल्प। हठयोग के द्वारा यदि मन तन में विशेष अवस्था की कल्पना भी कर ली जाये तो यह सहज (स्वाभाविक) नहीं कल्पना ही रहेगी। अवसान कर्म और ज्ञान का, यह कल्पना नहीं अवस्था विशेष है, जहाँ कल्पना-जल्पना सब शांत। विद्या, बुद्धि का बल व्यवसाय में प्रयोग किया जाता है, तब वह अर्थ संग्रह में सहायक होता है और जब वह साधना में प्रयोग किया जाता है तो एक नवीन पथ का कारण बनता है। साधना विद्या बुद्धि का आधार नहीं लेती उसका आधार उसका इष्ट होता है वह निराकार हो या साकार। साधना भी कर्म यदि कहलाये तो साधना वह कर्म नहीं, जिसके अवसान की अपेक्षा है। साधना उस अवस्था विशेष में पहुँचा देती है जहाँ कर्म का अवसान स्वतः होता है।

ये बातें साधारण जन समझें या न समझें, अपना अर्थ रखती हैं जिन्हें साधक ही समझेगा। भुलाना यदि आसान नहीं तो याद करना भी सरल नहीं। भूल जा कि तू जीव नहीं, याद रख तू शिव है यह कहना सरल है, किन्तु इस अवस्था के अनुभव में कितने युग बीतेंगे या जन्म यह कहना सरल नहीं।

कर्म ज्ञान का अवसान मनुष्य समझ पाता तो उसका जीवन अपूर्व होता। अपूर्व यों कि पूर्व अवस्था में उसने कर्म ज्ञान को ही प्रधान समझा इनका अवसान समझ पाता, तो उसकी (मनुष्य की) अभिरुचि न रहती।

अभिरुचि भी भिन्न-भिन्न मनुष्य की भिन्न-भिन्न होती है। वह भी मनुष्य था जिसने एक कबूतर के लिये अपने अंग-प्रत्यंग को इस प्रकार अर्पण

किया मानों अपने प्रिय देव को पुष्प अर्पित कर रहा हो। वह भी मनुष्य था जिसने डोम को शरीर अर्पण कर श्मशान की रखवाली की। वह भी मनुष्य था जिसने विष पान किया, किन्तु सिद्धान्त का परित्याग न किया। (शिवि, हरिश्चन्द्र, सुकरात) वे भी मनुष्य थे, जो विलासिता में जीवन बिताना जीवन की सफलता न मानते थे। ये भी मनुष्य हैं जो विलासिता में जीवन बिताना जीवन की सफलता मानते हैं। ये भी मनुष्य हैं जो मिथ्याभाषण को अपनी जीविका बना अपने को अति बुद्धिमान मानते हैं। ये भी मनुष्य हैं जिनके सिद्धान्त को पैसे बदलते रहते हैं।

ये रुचि हैं, अभिरुचि हैं, दूसरे शब्दों में संस्कार हैं जिनके कारण नर देव और दानव कहलाता है। मनुष्य के कर्म, मनुष्य का ज्ञान ही उसे देव या दानव बनाते हैं। यदि इन दोनों के प्रति अनुराग न हो तो वह व्यवहारिक भाषा में या तो महाज्ञानी कहलायेगा या महा अज्ञानी। ज्ञानी इस दृष्टि से कि वह कर्म और ज्ञान को एक प्रकार की बाधा समझता है 'स्व साक्षात्कार' के पथ की और अज्ञानी इसलिये कि जिसे कर्म ज्ञान का भी ज्ञान नहीं तो उसका जीवन ही भार हो जायेगा। एक ही अवस्था में मनुष्य ज्ञानी तथा अज्ञानी कहलाता हो यह तो आश्चर्य की बात है। यही तो संसार का गोरख धन्धा है, जिसे बहुत कम व्यक्ति जान पाते हैं।

कर्म-ज्ञान के अवसान की अवस्था सरल नहीं। कर्म के तीन भेद गीता ने बतलाये – कर्म, अकर्म और विकर्म तथा ज्ञान के भी दो भेद - इहलौकिक तथा पारलौकिक। पारलौकिक ज्ञान आज उपेक्षित है।

पर कौन, अपर कौन जब कि 'स्व' में ही सब कुछ समाया है। कथन सरल है, किन्तु अनुभूति सरल नहीं। मोह, स्वार्थ की ही जहाँ प्रधानता हो, वहाँ पारलौकिक बातें निरर्थक ही न समझी जायेंगी। अर्थ के युग में

परमार्थ की आवाज नक्कार खाने में तूती की आवाज ही न समझी जायेगी। कोलाहल में रहने वाले व्यक्ति के लिये शान्ति असहनीय हो जाती है, जब कि शान्तिप्रिय व्यक्ति कोलाहल से घबड़ाता है। कर्म, ज्ञान के अवसान का अभिलाषी दोनों को साम्यभाव से देखता है तथा ये दोनों अवस्थायें उसे बेचैन बनाने में असमर्थ रहती हैं।

वह व्यक्ति जो कर्म करने से घबड़ाता है वह अवसान के रहस्य को क्या जाने? कर्म करते-करते मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती तथा कर्मों से अन्य कर्म उत्पन्न होते हैं अथच फिर भी मनुष्य परेशान ही रहता है। तब वह चाहता है कि कोई ऐसा मार्ग मिले जहाँ इन कर्मों का चक्र स्वत: शान्त हो।

युक्ति सभी नहीं जानते जब कि इस रहस्य को मानने वालों की संख्या भी अधिक नहीं। चाह को राह मिलती है। जहाँ मनुष्य सूर्य, चन्द्र, सर्प, वृक्ष आदि की पूजा करता तथा भयभीत होता था, वहाँ ऐसे भी व्यक्ति आये जो अभय होकर स्वयं को ब्रह्म समझने लगे। भयभीत कभी अभय हो सकेगा इसकी कल्पना भी न की जा सकती थी, किन्तु विगत इतिहास मनुष्य को बतलाता है कि असम्भव भी सम्भव हुआ है और हो सकता है। विपरीत कर्म तथा निरर्थक कर्म तो त्याज्य हैं ही किन्तु वे कर्म भी सार्थक नहीं जो मोह, लोभ, क्रोध को बढ़ाते हैं। मनुष्य प्रथम तो विवेकी कम होते हैं और जो होते भी हैं वे भी कर्म के मोहक जंजाल से मुक्त नहीं हो पाते। अवसान को समझ कार्यों के प्रति अनुरक्ति न रखने वाले तो अति अल्प ही होते हैं।

भक्त कहता है प्रभो तेरी इच्छा पूर्ण हो, प्रभु की इच्छा की पूर्ति हो रही है या भक्त की, यह कहना भी कठिन है। किन्तु यह भी एक मार्ग है जहाँ कर्म के अवसान का भाव कुछ अंशों में होता रहता है। कर्म में लिप्त रहना भी

एक प्रकार का मोह है जिसका निवारण सुखदायक है। अकर्मण्यता कर्म का अवसान नहीं, अकर्मण्यता तो मनुष्य के विकास में घातक सिद्ध होगी।

प्रश्न हो सकता है कि विश्व तो कर्म-भूमि है, यदि कर्म के अवसान को प्रश्रय दिया जाये तो सृष्टि के कार्य कैसे होंगे? किन्तु प्रश्नकर्त्ता यह क्यों नहीं समझता कि अवसान को मान्यता देने से ही कर्म का अवसान नहीं हो जाता, इसके लिये विशेष अवस्था होती है, जहाँ कर्मठ-व्यक्ति ही कर्म अवसान की महत्ता जान पायेगा। जिसने कर्म किया ही नहीं, वह विश्व में आता ही क्यों? आया है कर्म का अवसान करने के लिये। कर्म तो सभी योनियों में करता आया, अब तो अवसान कैसे हो इन कर्मों का यही उसके जीवन का लक्ष्य है।

कर्म और धर्म की गहन गति है, यह अनेक धर्माचार्यों का मत है। बुद्धि तो इन बातों का समर्थन करेगी, किन्तु मन तर्क-वितर्क बहुत कम पसन्द करता है। बुद्धि निर्णय कर कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठी, कर्त्तव्य पालन की कठिनाई का भार तो मन पर न पड़ा। मन न चाहे तो तन की गतिविधि ठप पड़ जायेगी। कर्म का अवसान न केवल मन कर सकेगा, न केवल बुद्धि, परस्पर का सहयोग तथा समन्वय यदि सम्भव हो सका तथा वृत्तियाँ शान्त हो सकीं तो वह स्थिति बनती है, जहाँ कर्म का अवसान होता है।

कर्म किस भाव में रम रहा है, यह भी विचारणीय है और ऐसे कर्मों का क्या परिणाम होता है वह भी। जहाँ शरीर, मन, बुद्धि का प्रत्येक कार्य कर्म कहलाता है, वहाँ अवसान की बातें कहना कम आश्चर्यजनक नहीं, किन्तु किया क्या जाये, अवसान ही चिर-शान्तिदायक है।

"गुणा गुणेषु वर्त्तन्त" यह भी गीताकार का कथन है। यह भी विचारणीय विषय है कि गुण, गुणों में खेल खेल रहे हैं, यह भी दृष्टि है, यह द्रष्टा की स्थिति है, किन्तु अवसान में न द्रष्टा है न दृष्टि, है एक महा विचारों का प्रलय जो प्रकृति के प्रलय काल से सर्वथा भिन्न है। कर्म है, कर्म का फल है, ज्ञान है, ज्ञानका विषय है, पुष्प है उसकी सुगन्ध, किन्तु अवसान में कुछ भी नहीं और सब कुछ है। कुछ भी नहीं और सब कुछ, यह कैसी स्थिति है? यह ऐसी स्थिति है, जहाँ स्थिति भी स्थित हो जाती है। गति है तो अनेक कार्य हैं, ज्ञान है तो अनेक विषय हैं, किन्तु जहाँ अवसान है, वहाँ न कर्म है और न ज्ञान। परम शान्ति अवसान में स्थित है।

धार्मिक ग्रन्थ की समाप्ति के पश्चात् ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः लिखने का प्रचलन है, किन्तु अवसान के पश्चात् न लिखना है और न पढ़ना।

देहावसान के पूर्व ही कर्म ज्ञान का अवसान हो गया तो आवागमन न रहा। कर्म की रुचि आगमन का कारण बनती है। जब रुचि न रही तो ज्ञान के लिये स्थान कहाँ? न कर्म अवांछनीय है और न ज्ञान, किन्तु अवसान के अभाव में इनका चक्र चलता ही रहता है और जब तक चक्र चल रहा है, शान्ति कहाँ? शान्ति नहीं तो जीवन ग्रन्थ की, विचारों की ग्रंथी की, देश-उपदेश की, भाव-अभाव की, स्त्रष्टा- द्रष्टा की, संग-कुसंग की, भले-बुरे की, इहलोक परलोक की, पंथ-पंथी की, विचार-विमर्श की, कर्म ज्ञान की समाप्ति कहाँ?

यात्री भी यात्रा के अन्त का इच्छुक है, किन्तु इस यात्रा, जीवन-यात्रा का अन्त कहाँ? यात्रा है कर्म के लिये, ज्ञान के लिये, किन्तु यदि इनका अवसान न हुआ तो व्यक्ति का क्या हाल होगा? आज भी कर्म के बन्धन में फँसा तो मुक्त कब होगा?

ज्ञान पार्थिव वस्तुओं का, ज्ञान अध्यात्म का। आज अध्याय समाप्त कर सु-कु विचारों का और लुटा आनन्द जो तेरा आन्तरिक धन है। कर्म ज्ञान के द्वन्द्व में न फँस, बड़े-बड़े आये और चले गये और पार्थिव धन यहीं छोड़ गये जिनकी प्राप्ति के लिये साधारण क्या विशिष्ट व्यक्ति भी परेशान है। ले चल उस पारमार्थिक धन को वहाँ, जहाँ सूर्य नहीं, चन्द्र नहीं, मोह नहीं, बंधन नहीं, प्रेम नहीं, घृणा नहीं, कर्म नहीं, ज्ञान नहीं, साधना नहीं, साध्य नहीं, गुरु नहीं, शिष्य नहीं, जहाँ तू ही तू है मैं का अभिमान नहीं।

ॐ

दो शब्द

प्राणी की अचिन्त्य भावनायें किलोल करती हैं, फिर भी मनुष्य व्याकुल है, त्रसित है, आशंकित है। आनन्द का परिचय भी यदि मानव को होता तो आनन्द-पथ का अनुसरण कर, आनन्द-तरंग में अवगाहन कर, आनन्द-ध्वनि सुन, अति हर्षित हो, प्रथम आनन्द की गाथा गाता तथा आनन्द में ही समा जाता, किन्तु भिन्न-भिन्न धर्म तथा मतों ने आज भी उसे भ्रमित कर रखा है।

सामयिक धर्म आज भी अपनी ध्वजा फहराते तथा अन्य धर्मों को तुच्छ समझ, द्वन्द की सृष्टि विस्तृत कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में आनन्द-वार्ता इन धर्म-ध्वजियों के लिये निरर्थक है। साकार-निराकार का रहस्य न समझता हुआ आज भी मनुष्य वाद-विवाद में संलग्न रहे तो शान्ति कहाँ, आनन्द कहाँ?

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ विचार ग्रथित हैं, यदि ये अल्पांश में भी आनन्द-पथ के अनुसरण में सहायक सिद्ध हो सकें तो लेखक का चिन्तन, मनन सार्थक अन्यथा प्रयास है और होता ही रहेगा अन्य महानुभावों के द्वारा जो आनन्द के उपासक हैं, किसी व्यक्ति या धर्म विशेष के नहीं।

एक ही शब्द महामन्त्र का कार्य करता है, दो शब्द यदि आनन्द – वृष्टि करें तो आश्चर्य क्या।

आश्चर्य आज भी बना हुआ है इन धर्म-ध्वजियों के कारण। धर्म और झगड़ा? धर्म तो झगड़ा मिटाता है, बढ़ाता नहीं। आनन्द-उपासक

विवाद नहीं चाहता – संवाद चाहता है अपने प्रभु का, 'स्व' का। विवाद क्यों? विवाद कैसा? शुभ-संवाद किसी भी महापुरूष के द्वारा दिया गया हो आनन्द उपासक के लिये अभिनन्दनीय है।

कुछ लिखा गया, कुछ लाभ उठायें तो कुछ आनन्द भी आये।

ॐ

अनुक्रमणिका

	विषय		पृष्ठ
१.	चिन्तन-मनन-ध्वनि	..	१
२.	“शान्ति का उद्‌गम”	....	११
३.	आनन्द कहाँ ?	....	२१
४.	अनन्त का चक्र	....	३१
५.	भक्ति ही क्यों ?	....	४२
६.	मुक्ति महान	....	५३
७.	कर्म -ज्ञान का अवसान	....	६४